ॐ

श्री परमात्मने नम :

द्रव्यदृष्टि-प्रकाश

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  ५८०, जूनी माणेकवाड़ी,
  भावनगर-३६४००१
  फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र, सोनगढ़
- **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट**
  विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़
  फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२
- **श्री खीमजीभाई गंगर** (मुंबई) : (०२२) **२६१६१५९१**
  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) **२४७५२६९७**
  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) **R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३**

नौंवी आवृत्ति : प्रत : १००० (**दि. २७-०४-२००७, पूज्य सोगानीजी की ९६वीं जन्म जयंती**)
पृष्ठ संख्या : ५२ + २७२ = ३२४
लागत मूल्य : ५५/-
विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :
पू□ा इम्प्रेशन्स
प्लोट नं. १९२४-बी,
६, शान्तिनाथ बंगलोझ
शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
१५/सी. बंसीधर मिल कम्पाउन्ड,
बारडोलपुरा
अहमदावाद
फोन : ९८२५४७७७४५

प्रकाशकीय

प्रस्तुत `द्रव्यदृष्टि प्रकाश' ग्रन्थ स्वानुभूति विभूषित पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचन्द्रजी सोगानी द्वारा लिखे पत्रों व तात्त्विकचर्चाओं में निरूपित अध्यात्म के मूल/सूक्ष्म सिद्धान्तों का अनुपम संकलन है। यह ग्रन्थ जैनवाङ्गमय के आध्यात्मिक विभाग की एक अनूठी थाती है।

अनादिकाल से अज्ञानी जीव ने अपने पारमार्थिक मूल स्वरूप, जो शाश्वत, त्रिकाल एकरूप, निष्कम्प व ध्रुवधाम है, को दृष्टि में न लेकर, उसने प्रतिसमय उत्पाद्-व्ययस्वरूप, नश्वर, कम्पित, क्षणिक वर्तमान पर्यायवत् ही अपना स्वरूप जान-मानकर, उसीकी दृष्टि कर रखी है। और ऐसी विपरीत दृष्टि में वह अपना अस्तित्व क्षणिकवत् श्रद्धने रूप भाव में स्वयं के मूल स्वरूप का निरन्तर घात करता रहा है और वैसे भाव के फलस्वरूप वह अनादि से द्रव्य और भावमरण को संप्राप्त होता आया है। और वस्तुस्थिति भी यही है कि जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि होती है। असल में जीव के पंचपरावर्तनरूप संसार की अनन्त क्लेश संतति का एकमात्र मूल कारण उक्त विपरीत दृष्टि ही है, जो अनादि से मिथ्यात्वभाव रूप में निरन्तर वर्त रही है। ऐसे भाव को आगम में पर्यायबुद्धि, पर्यायमूढता, पर्याय का कर्तृत्व, पर्याय में एकत्व, पर्याय में अस्तित्व आदि अनेक संज्ञाओं से दर्शाया है। वास्तविकता तो यह है कि विपरीत श्रद्धा / दृष्टि के गर्भ में अनन्त दोषों व दुःखों की सर्जन क्षमता सदा विद्यमान रहती है और उससे प्रतिपल दोष व दुःख अंकुरित होते ही रहते हैं। अतएव मुमुक्षु का सर्व प्रथम कर्तव्य यही है कि वह, दृष्टि विपर्यास जैसे सर्व क्लेशों के जनक की भयंकरता का मूल्यांकन जैसा कि ज्ञानी धर्मात्माओं ने निर्दिष्ट किया है तद्नुरूप भलीभाँति निश्चय करे और फिर अपनी

सर्व शक्ति उक्त विपर्यास के मूल को निरस्त करने में लगावे; तभी उसका आत्मश्रेय सम्भव है।

उक्त महत्व के हेतु से पूज्य श्री सोगानीजी ने कथित `महाविपर्यास' के विरूद्ध, परम परमार्थरूप निज मूल तत्त्व की सर्वोत्कृष्ट उपादेयता दर्शाते हुए अपनी अनूठी द्रव्यदृष्टिप्रधान शैली में जितने प्रचण्ड प्रहार किये हैं, वे जीव को अनादिरूढ पर्यायदृष्टि के चंगुल से छुडवाने और सर्व श्रेय की मूल द्रव्यदृष्टि कराने हेतु सचोट, सबल और सार्थक व उपकारभूत निमित्त होने से, उन्हें ग्रन्थारूढ़ किया गया है। श्री सोगानीजी की कथनपद्धति में ऐसी मौलिकता, सहजता, प्रखरता और स्पंदनयुक्तता सन्निहित है, जिसके सम्यक् स्पर्श से पात्र जीव का सुषुप्त पड़ा हुआ आत्मा अपने श्रेयार्थ संवेग से एकदम उछल पड़े। लेकिन इस तथ्य की सुप्रतीति तो, पाठकों को ग्रन्थ में निर्दिष्ट भावों के वाच्य को समीचीनरूप से अवगाहन करने पर ही होगी।

उल्लेखनीय है कि अनन्त करुणामूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कहानजी स्वामी की वर्तमान व भावी मुमुक्षु समाज पर असीम निष्कारण करुणा रही है और इस करुणादृष्टिरूप देशना, तथा स्वयं के ज्ञान-ध्यान-साधना का मुख्य केन्द्रस्थल श्री स्वर्णपुरी (सोनगढ़) रहने से यह क्षेत्र `तीर्थधाम' में परिणत हुआ है। परन्तु यह तीर्थधाम श्री निहालचन्द्रजी सोगानी के लिए तो `ज्ञानकल्याणक' स्थल सिद्ध हुआ है। यहीं उन्हों ने अपने प्रथम दिन के संक्षिप्त-से परिचय में ही श्री गुरु के श्रीमुख से मुखरित प्रथम भवच्छेदक देशना झीलकर, उसी दिन अनादिरूढ़ मिथ्यात्व को विध्वंस कर, मोक्षपथ की प्रथम सीढ़ीरूप स्वानुभूति प्रकट की। यहीं पूज्य गुरुदेवश्री की अप्रतिम बाह्य जिनशासन प्रभावना के प्रताप व प्रसाद से श्री सोगानीजी के अन्तर में निश्चय जिनशासन का उदय हुआ। यह एक ऐसी अनूठी, अनूपम गौरवमयी घटना है जो स्वर्णपुरी तीर्थधाम के स्वर्णिम इतिहास के पन्नोंपर रत्नाक्षरों में टंकोत्कीर्ण है; जिसकी प्रभा स्वयं ही निरन्तर जगमगा रही है जिसे

अनदेखा करना सम्भव नहीं।

यथार्थतः प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल तो पूज्य गुरुदेवश्री ही हैं, कारण कि उन्हीं धर्मपिताश्री की भवान्तकारी देशना के प्रसाद से ही श्री सोगानीजी का सद्धर्म में नया जन्म हुआ है। अतः उनके चरणारविन्द में अत्यन्त भक्तिभाव से कोटि-कोटि वन्दन !

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु प्रकाश्य सामग्री सुलभ कराने के हए हम श्री रमेशचन्द्र सोगानी, कलकत्ता के आभारी हैं। साथ ही जिन्होंने इस ग्रन्थ का मूल्य घटाने के लिए जो राशि प्रदान की है, (जिनका विवरण अन्यत्र प्रकाशित है) के प्रति; तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रणकार्य के लिए (श्री भीखाभाई सो. पटेल,) भगवती ऑफसेट और टाइपसेटिंग के लिये पूजा इम्प्रेशन्स के प्रति आभारी हैं।

अंत में, पाठकगण मात्र अपने आत्मश्रेय के लक्ष्य से प्रस्तुत ग्रन्थ का वारंवार अध्ययन करें, ऐसे विनम्र अनुरोध के साथ -

भावनगर-दि-३१-०३-२००७ ट्रस्टीगण

(श्री महावीर जयंती) **श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**

भावनगर

आमुख

मेरे संपूज्य पिताश्री निहालचन्द्रजी सोगानी, जिनसे अध्यात्मयुगस्रष्टा परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कहानजी स्वामी के सभी अनुयायी सुपरिचित हैं, के स्वर्गारोहण पश्चात् जब मेरी मातृश्री श्रीमती अनूपकुंवर को, सत्पुरुषों के प्रति अत्यनुरागी स्व. श्रीमती गुलाबबहेन ने, सोनगढ़ में, यह जानकारी दी कि उनके पति श्री सोगानीजी के द्वारा समय समय पर मुमुक्षुओं को लिखे पत्रों व तत्त्वचर्चाओं में दिए गए समाधान अध्यात्मजगत् में विशिष्ट कोटि के हैं, अतएव उनका प्रकाशन जहाँ एक ओर उनकी अपने स्वर्गस्थ पति के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी, वहीं दूसरी ओर वह, अनेक भव्य जीवों के लिए एक उपकारभूत निमित्त होगा। यह जानकर मेरी मातृश्री को अतीव प्रसन्नता हुई। परन्तु ऐसे किसी प्रकाशन के पूर्व पूज्य गुरुदेवश्री से अनुमति लेना आवश्यक समझकर उन्हों ने पूज्य गुरुदेवश्री से तद्विषयक याचना की, जिसे उन्होंने सप्रमोद मान्य कर लिया। तत्पश्चात् मेरी मातृश्री ने पूज्य गुरुदेवश्री की सम्मति से प्रस्तावित प्रकाश्य सामग्री के संकलन और सम्पादन का महत् भार माननीय श्री लालचन्द अ. मोदी को सौंपा और उन्हीं के विशेष आग्रहभरे अनुरोध को स्वीकार कर माननीय श्री शशीकांत म. शेठ भी इस कार्य में जुड़े। इन दोनों महानुभवों ने श्रीगुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर, अथक परिश्रम लेकर, अत्यन्त सावधानी और सूझबूझपूर्वक उक्त प्रकाश्य सामग्री को संकलित व सम्पादित किया।

तत्कालीन जैन समाज में द्रव्यदृष्टि प्रधानता की श्री सोगानीजी

जैसी प्रखर शैली प्रायः अप्रचलित थी। आगम पाठियों को भी उनकी शैली व कई एक शब्द आपत्तियुक्त लगने की सम्भावना थी। अतएव ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में रखे गए तत्त्वचर्चा विभाग के प्रश्नोत्तरों के संदर्भ में न तो श्री सोगानीजी के कथन की मौलिक प्रखरता में किसी प्रकार की न्यूनता आये और न ही पाठकों में कोई समझ-विपर्यास उत्पन्न हो जाये जिससे वे अपना अहित साध बैठें, इस आशय से जहाँ जो योग्य हो वहाँ तद्विषयक स्पष्टता कोष्ठकों में देना योग्य लगने से माननीय श्री शशीभाईजी ने वैसी स्पष्टता की। मेरे पिताश्री से माननीय श्री शशीभाईजी का अतीव अन्तरंग व घनिष्ट परिचय और साधर्मी वात्सल्यता थी जिसके कारण वे उनके हार्द/अभिप्राय/निरूपणपद्धति/कथन शैली से सुपरिचित रहे हैं। चूँकि मेरे पिताश्री की सहज व नपे-तुले शब्दों में अपनी बात कहने की प्रकृति थी जिससे समझ फ़र्क़ होने अथवा भ्रम फैलने की सम्भावना से बचने के लिए उन्हों ने कोष्ठकों के माध्यम से स्पष्टता की। इससे सम्माननीय श्री शशीभाईजी की विषय की सर्वांग व गहन पकड़, निःशंकता, वाच्यग्राहकता और अन्तर सूक्ष्मता के साथ ही उनकी दूरदर्शिता भी स्वतः उजागर होती है।

माननीय सम्पादकों ने ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभाजित करके प्रथम खण्ड में पत्र विभाग, दूसरे खण्ड में ग्रन्थ के मुख्य निर्दिष्टविषय-समर्थक पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन-अंश तथा तीसरे खण्ड में तत्त्वचर्चा रखी; एवम् ग्रन्थ की विषय सामग्री के अनुरुप ही ग्रन्थ का शीर्षक `द्रव्यदृष्टि प्रकाश' रखा। मैंने अपनी मातृश्री की मंगल प्रेरणा से यह ग्रन्थ सन् १९६७ में प्रकाशित किया और सार्वजनिक करण हेतु इस अपने पिताश्री के अनंत अनंत उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के पावन करकमलों में समर्पित करके ग्रन्थ-विमोचन की मंगलविधि

सम्पन्न की। प्रारम्भ में ग्रन्थ के उक्त तीनों खण्ड संयुक्त थे लेकिन बाद में तीसरे खण्ड की जिल्द अलग से की गई जिसे काफ़ी समय तक पूज्य गुरुदेवश्री अपने हाथों से सुयोग्य व अभ्यासी मुमुक्षुओं को देते थे। जिन्हें यह ग्रन्थ मिलता वह अपने को धन्य समझता था। पूज्य गुरुदेवश्री का उक्त प्रकार का वर्तन ही ग्रन्थ की विशिष्टता को प्रमाणित करता है।

तत्पश्चात् ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय खण्ड की प्रथम आवृत्ति में जो कुछ त्रुटियाँ रह गई थी उन्हें श्री मणिकान्त पदमशी नागड़ा, घाटकोपर (मुंबई)वालों ने यथासम्भव सुधार कर सन् १९७० में द्वितीय आवृत्ति के रूप में प्रकाशित किया गया।

मेरे पिताश्री मारवाड़ी-हिन्दी भाषी थे जब कि धार्मिकक्षेत्र में उनके परिचित, जिनसे कि उनका पत्र व्यवहार व तत्त्वचर्चायें हुई, प्रायः गुजराती भाषी रहे। ये लोग वाच्य को सही तौर से समझ सकें इसी आशय से वे कई गुजराती शब्द, जिससे हिन्दीभाषी प्रायः परिचित नहीं हैं, प्रयोग करते थे और कभी कभी तो उनके द्वारा गुजराती-सी लगनेवाली वाक्य रचना भी सहज हो जाया करती थी। इस प्रकार से उनकी अभिव्यक्ति में मारवाड़ी, हिन्दी और गुजराती भाषाओं का सहज मिश्रण हो गया था। और जिन्हों ने तत्त्वचर्चाओं में हुए समाधानों को सुनकर लिखा, उन्हों ने भी अपनी मातृभाषा गुजराती ही लिखा था। संयोगवश ग्रन्थ के सम्पादक भी गुजराती होने तथा तत्त्वचर्चा की प्रकाश्य सामग्री की भाषाकीय स्थिति उक्त प्रकार की होने से उसके हिन्दी प्रकाशन में लौकिक अपेक्षा से माने जानेवाली भाषा/वाक्य/मात्रा आदि की त्रुटियाँ होनी स्वाभाविक थी। परन्तु वाच्य अवगाहन/भासन में भाषा अथवा त्रुटियाँ आदि कभी बाधक नहीं बनती हैं। तथापि जिनका भाषा, शब्दों व मात्रा आदि

की अशुद्धता की ओर ध्यान गया उन्होंने उस ओर मेरा ध्यान बार-बार आकर्षित किया है।

सुयोग से जब तीनों खण्डों का समन्वित ग्रन्थ का प्रकाशन होने का है तो उल्लिखित त्रुटियों को दूर करके तथा गुजराती शब्दों का प्रचलित हिन्दी में रूपांतरित करके परिशुद्धरूप से ग्रन्थ प्रकाशित हो, यही योग्य है। अतएव ग्रन्थ को यथाशक्ति परिशुद्ध किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता है कि यद्यपि मूल ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में कई जगह स्पष्टता हेतु कोष्टकों के माध्यम से विवक्षा स्पष्ट की गई है तथापि कई समाधानों के लिए विशेष स्पष्टता की आवश्यकता समझते हुए इस ग्रन्थ में कोष्टकों में तद्विषयक विशेष स्पष्टीकरण दिया है, जिसे अलग टाईप (अक्षरों) में दर्शाया गया है, आशा है ऐसा करना पाठकों के लिए हितकारी सिद्ध होगा। ऐसा करने के पीछे कारण यों बना : यद्यपि मैंने कई बार इस ग्रन्थ का आद्योपांत स्वाध्याय किया है और सदा अपूर्वता ही लगती रही। ऐसी बात एक बार प्रमोद से किसी चर्चा के दौरान मैंने माननीय श्री शशीभाईजी को कही तो उन्हों ने बतलाया कि `इस ग्रन्थ के संकलन और सम्पादन में प्रमुखरूप से यही एक मानदण्ड सामने रखा गया था कि यह ग्रन्थ अध्यात्मविद्या का उच्च कोटि का सिद्ध हो। इसी दृष्टि से ही ग्रन्थ में प्रकाशित सभी प्रश्नोत्तरों का चयन किया गया था। यदि कहीं किसी प्रश्न का उत्तर ऊपर ऊपर से साधारण-सा लगे तो भी उसकी गवेषणा से वह उत्तर निश्चित ही असाधारण प्रतीत होगा। अतः आप इसी दृष्टिकोण को मुख्य रख कर ग्रन्थ का स्वाध्याय करें तो आप को अनेक विशेषतायें लक्ष्यगत होगी।' तब से साधारण-से लगते

उत्तरों में गम्भीरता भासित होने लगी और जब जब वैसे उत्तरों में गर्भित अर्थगांभीर्यता का रहस्योद्‌घाटन माननीय श्री शशीभाईजी करते तो ऐसा बारबार लगता कि यदि वैसी स्पष्टता सर्व साधारण को सुलभ हो तो उनके लिए विषय की सूक्ष्मता भासित होना व मार्ग की सूझ होना अधिक सरल होता। मेरे बारम्बार अनुरोध करने पर ही उन्होंने इस ग्रन्थ के कई स्थलोंपर स्पष्टता की है कि जिसके लिए मैं उनका जितना भी आभार मानूँ कम होगा।

उक्त विशिष्टताओं के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में मेरे पिताश्री के अन्तर्बाह्य जीवन के विशिष्ट पहलुओं को `श्री निहालचन्द्रजी सोगानी (-व्यक्तित्व एवं कृतित्व)' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। यद्यपि मूल ग्रन्थ में मेरी स्व. छोटी बहिन श्रीमती कुमुदलता ने अपने पिताश्री का संक्षिप्त परन्तु अति भाववाही जीवन परिचय दिया था। तथापि अनेक मुमुक्षुओं को उनके जीवन-प्रसंगों के बारे में विशेष जिज्ञासायें रही हैं। इसके अलावा जब जब मेरी मुलाकात माननीय श्री शशीभाईजी से होती तो वे मुझे बारम्बार प्रेरित करते कि मैं अपने पिताश्री के जीवन के अप्रकाशित प्रसंगों तथा उनके जीवनवृत्त की विशेष छानबीन करुँ। मुख्यतः उन्हीं की प्रेरणावश मैं जब जब तद्‌विषयक महत्त्वपूर्ण बातों का पता करके उन्हें बतलाता रहा हूँ। इस सम्बन्ध में जिन लोगों ने मुझे सहयोग दिया है मैं उन सभी का कृतज्ञ हूँ। इस प्रकार उल्लिखित शीर्षकवाला आलेख समादरणीय श्री शशीभाईजीने, मेरी छोटी बहिन द्वारा पूर्व प्रकाशित जीवन परिचय, मेरे द्वारा समय समय पर बतलाये तथ्यों, अन्य परिचितों की भेटवार्त्ता, तथा ग्रन्थ के पत्रों के आधार से संकलित व संपादित कर बड़े ही रोचक तथा हृदयग्राही भावों में प्रस्तुत किया है। निस्संदेह यह आलेख सिर्फ मेरे पिताश्री का जीवन-वृत्तांत नहीं है, अपितु यह

त्रिकालवर्ती ज्ञानी धर्मात्माओं की अन्तर्बाह्य दशा का जीवंत चित्रण है। तत्वतः साधक के बाह्य उदयप्रसंगों की असमानता, चित्रविचित्रता तो मात्र पूर्व प्रारब्धोदय को अनुसरण करती है परन्तु उसी काल उससे भिन्न वर्तती मूल, अनुदयरूप अन्तर्दशा सम्यक् पुरुषार्थ को अनुसरती है। और ऐसी सत्पुरुषार्थधारा सर्व ज्ञानी धर्मात्माओं को निरन्तर वर्तती है जिससे त्रिकालवर्ती साधकों में साम्यपना रहता है। उक्त आलेख मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त प्रेरणास्पद है, अपनी दशा के प्रमाणीकरण का पैमाना है और ज्ञानी धर्मात्माओं के अन्तर्बाह्य जीवन की समीचीन पहचान से सहज स्फुरित होनेवाली भक्ति बहुमान का समर्थ निमित्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की एक और विशेषता है कि इस में सोगानीजी की विभिन्न मुद्रा के कई चित्र दिये गये हैं। इसी प्रकार ग्रन्थ के मुखपृष्ठ को भी आकर्षक बनाकर नए परिवेश में प्रस्तुत किया जा रहा है।

अन्त में, मैं श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट का आभारी हूँ कि जिन्हों ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया है। ... अस्तु।

- रमेशचन्द्र सोगानी

पूज्य निहालचंद्र सोगानीजीका व्यक्तित्व एवं कृतित्व

राजस्थानकी पुनीत-पुण्य वसुन्धरा अनेक धर्मात्माओंकी जन्म व कर्म भूमि है। यहाँका ऐतिहासिक नगर अजमेर अपनी प्राकृतिक छटाके साथ साथ विविध कला-संस्कृतियोंके केन्द्रके रूपमें सुप्रसिद्ध है। यहाँ प्राचीन कालसे ही मूल दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी भी प्रचुर संख्यामें निवास करते रहे हैं। यहाँ उन लोगोंने अपनी धर्माराधनाके निमित्त अपने आराध्य देवोंके कई गगनचुम्बी शिखरबद्ध जिनमन्दिरोंके निर्माण कराये हैं, जो वस्तुशिल्प व कलात्मक सौन्दर्यकी दृष्टिसे भारत विख्यात हैं। हमारे प्रस्तुत चरितनायक, निकट मोक्षगामी-धर्मात्मा श्री निहालचंद्रजी सोगानी (जिनके लिए इस आलेखमें `श्री सोगानीजी' शब्द प्रयुक्त किया है) की भी यही जन्मभूमि है।

यद्यपि सोगानी-परिवारकी अनेक पीढ़ियोंकी जन्मभूमि अजमेर ही रही है तथापि यह कहना कठिन है कि अतीतमें उनके पूर्वज कब और कहाँसे आकर यहाँ बसे।

श्री सोगानीजीके पिता श्री नेमीचन्द्रजी धर्मनिष्ठ, सरलमना व संतोषी वृत्तिके व्यक्ति थे। उनके अन्य तीन सहोदर थे। उन्होंने आजीविकाके साधन हेतु गोटाकिनारीका हस्त-शिल्प अपनाया। परिवार मध्य वित्तीय स्थितिवाला था । श्री नेमीचन्द्रजीकी प्रथम पत्नी श्रीमती सूरजबाईका बाल्यावस्थामें ही निधन हो जानेसे उनका दूसरा विवाह गगराना ग्रामके कासलीवाल परिवारकी कन्या किशनीबाईके साथ किया गया। उसने चार पुत्र व एक पुत्रीको जन्म दिया। जिनमें श्री

निहालचन्द्रजी दूसरे नम्बरके पुत्र थे।

D श्री सोगानीजीकी जीवनयात्रा :

सन् १९१२में, वैसाख सुद-११, विक्रम संवत १९६९ के दिन विधिकी किसी धन्य पलमें बालक `निहाल' को जन्म देकर उनकी माताश्रीकी कोख भी निहाल हो गई। बालकका मनोहर रूप व सौम्य निश्छल मुद्रा सभीको सहज ही मोहित कर डालती। बालककी बाल सुलभ `चन्द्र' कलाएँ व चेष्टाएँ भी सभीका मन लुभाती रहती। भावी महामनाके पाद-स्पर्शित रजकण भी मानों गौरवान्वित हो, धन्य हो गये।

श्री सोगानीजी जन्मजात असाधारण प्रतिभाके धनी, विचक्षण व मेघावी रहे; परिणामत: उन्होंने अति अल्प प्रयाससे ही यथेष्ट लौकिक शिक्षा प्राप्त कर ली । वे सहज चेतना, जिज्ञासुवृत्ति, निर्भीक, कार्यनिष्ठ व परिश्रमशील होनेके साथ साथ धुनके धनी भी थे । किसी कार्यको प्रारम्भ कर देनेके बाद उसे पूरा किये बिना उन्हें चैन कहाँ ?

इसी बीच पारिवारिक-दायित्वबोधने उन्हें परिवारके उपजीवनके निर्वाह हेतु सहयोगी बना दिया, अत: उन्होंने अजमेरमें ही एक दुकान पर नौकरी करना स्वीकार कर लिया। उनकी प्रामाणिकता, प्रबन्ध-पटुता, व्यवहार-कुशलता, कर्तव्यनिष्ठतादि सद्‌गुणोंसे प्रभावित होकर दुकान मालिकने परिस्थितिवश कालान्तरमें अपनी दुकानका स्वामित्व ही श्री सोगानीजीको सौंप दिया।

तथापि उनकी बालवस्थामें ही विलक्षण प्रकृति थी । कार्यनिष्पन्न होते ही वे गम्भीर हो, एकान्तमें बैठ किन्ही विचारोंमें खो जाया करते थे। उनकी भीतर तक झाँक लेनेवाली तेज आँखें, समाधिस्थ-से रहते अधर-सम्पुट उनकी जिज्ञासुवृत्तिको रेखांकित करते रहते। उनकी ऐसी वृत्ति घरके बड़ोंको विस्मित करती या सालती थी।

D गृहस्थाश्रम :

श्री सोगानीका सन् १९३४में बाईस वर्षकी वयमें अजमेरके ही

बाकलीवाल परिवारकी कन्या अनोपकुंवरके साथ विवाह हुआ। कालक्रममें उनके दाम्पत्यजीवनसे पाँच पुत्रों व तीन पुत्रियोंने जन्म लिया। जिनमेंसे प्रथम पुत्रका ४-५ वर्षकी अल्पायुमें तथा दो पुत्रियोंका (-श्रीमती आशालता व कुसुमलताका उनके विवाहोपरांत) निधन हो गया। वर्तमानमें सबसे बड़े पुत्र श्री रमेशचन्द्र व उनके तीन अनुज क्रमश: श्री नरेशचन्द्र, श्री अशोककुमार व श्री अनिलकुमार मोजूद हैं। और वे सभी अपने पूज्य पिताश्रीके निर्दिष्ट पथ पर आनेका प्रयास कर रहे हैं।

D मन्थन-काल :

यद्यपि श्री सोगानीजीके लिए बढ़ती हुई गृहस्थीकी आवश्यकताओंकी सम्पूर्ति उस दुकानकी आमदनीसे करना अति कठिन था; तथापि उन्हें तद्विषयक कोई विशेष मानसिक उलझन नहीं रहती थी।

परन्तु उनके कोई पूर्व संस्कारवश बालावस्था से ही स्फुरित वैचारिक द्वंद्व अविच्छिन्नधारासे जो प्रवहमान था, वह दिन दिन वृद्धिगत होता गया। वह उन्हें न तो दुकान पर और न ही घर पर चैन लेने देता था। जीव-जगत, जीवन-मृत्यु, सत्यासत्यकी जटिल समस्याओंसे जूझता हुआ उनका घायल मन बार बार प्रश्नातुर हो उठता। क्या है सत्य ? कौन हूँ मैं ? कहाँ है अखण्ड शान्ति ? कहाँ है इन ज्वलंत प्रश्नोंका समाधान ?

इस तरह एक ओर पारिवारिक दायित्वका बढ़ता हुआ दबाव और दूसरी ओर उक्त प्रकारकी वैचारिक मन:स्थिति। दोहरी मानसिकताका यह द्वंद्व प्रबलसे प्रबलतर होता गया।

नीरव निशीथके सायेमें जब निद्रालस संसार स्वप्नोंमें खोया रहता, वे उन्नीद्र होकर घरकी छत पर चक्कर लगाते रहते। धूँधले उदास आकाशमें वे किसी प्रकाशमान ध्रुव तारेकी खोज करते रहते। मन होता, पाँवोंमें पंख बाँधकर उड़ता हुआ चला जाऊँ इस घुटन और कुंठाओंकी सीमाके उस पार, जहाँ अनवरत शान्तिका अखण्ड साम्राज्य

स्थापित है। अपनी ही सृष्टिके ताने-बानेसे गुथे जंजालसे मुक्त होनेके लिए उनके प्राण छटपटाते रहते। कोई दूरागत पुकार उनके कानोंमें गूँजती रहती। अनागतका कोई आमंत्रण उन्हें अपनी ओर खींचता रहता। निरन्तर बढ़ती हुई बेचैनी और विह्वलताको देखकर उनकी धर्मपत्नी भी करुणासे विगलित होकर तड़प उठती। परन्तु तादृश स्थिति बिना, ऐसी गोपित वेदनाका कारण जान पाना सम्भव कहाँ ?

भीषण अतृप्ति और प्यास, कभी न भरनेवाला शून्य, कभी न बुझनेवाली आगके घेरेमें घिरते चले गये, आत्मवेदनाके निगूढ़ पारावारमें वे डूबते गये। उन्हें प्रत्येक सांसारिक कार्य विष-तुल्य लगने लगे।

सत्यसे साक्षात्कारकी अभीप्सामें श्री सोगानीजीके जीवनका रूपान्तर होता रहा। भरे-पूरे संसारमें वे एकाकी और ऐकान्तिक होते चले गये। शान्तिकी प्राप्तिके लिए वे अनेक उपक्रम करते रहे। यहाँ तक कि किरायेके घरमें रहने पर भी छतके ऊपर, उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति तदनुकूल न होनेपर भी, अपने खर्चसे एक कोठरी भी बना ली; जहाँ उनका एकान्तवास हो सका। यही कोठरी उनकी शोध और साधनाका केन्द्र बन गई। शरीरसे लौकिकधर्मका पालन करते हुए भी उनकी अस्तित्वगत उपस्थिति भावनाके रहस्यलोकमें रहने लगी।

D सत्पात्रता :

साधु-सन्तोंका समागम, जिनदेव दर्शन, जैन ग्रन्थोंका आलोडन करना श्री सोगानीजीकी दिनचर्याका अनिवार्य अंग बनता गया। वे जब तब अन्य धर्मग्रन्थोंका भी तुलनात्मक अध्ययन किया करते थे। उनकी स्वाध्यायरुचि इतनी बढ़ चली थी कि वे दुकान पर भी तनिक-सा अवकाश मिलते ही या ग्राहकोंको नौकरके हवाले कर, शास्त्र-स्वाध्यायमें खो जाते थे। चिंतन-मनन-मन्थनके धुंध भरे गलियारोंमें भटक-भटक कर वे रोशनीकी तलाश करते रहे। अपनी अभीष्ट-सिद्धि हेतु उन्होंने अपने ही हाथोंसे बड़े जतनसे तैयार की हुई सामग्रीसे, लम्बे

समय तक, दत्तचित्तसे चार-चार पाँच-पाँच घण्टों खड़े रहकर दैनिक पूजाएँ की, खड़गासन् ध्यान क्रियाका अभ्यास किया, एकान्तमें हठ योगियोंके हठवादको साधा, यहाँ तक कि एक बार तो गृहस्थ-बन्धनसे दूर होनेके लिए घर छोड़कर डेढ़-दो माह तक शहरकी ही धर्मशालामें एक विद्वान पण्डितको रखकर, रात-रात भर जागकर अनेक जैनग्रन्थोंका गहन परायण किया; घण्टों ही चिंतन-मनन-ध्यान आदि क्रियाओंमें रत रहते, तथापि जिस परम सत्यको पानेके लिए उनका रोम-रोम व्याकुल व बेचैन था, उसका साक्षात्कार उन्हें नहीं हुआ तो नहीं हुआ। अनमोल मनुष्यभवका एक अंश तो इस भटकनमें ही निकल गया। आत्म-विरहसे उनका आर्त मन बार बार पुकारता कि यदि सत्यसे साक्षात्कार नहीं हुआ तो फिर मेरे इस नश्वर शरीरका इस असार संसारसे उठ जाना ही श्रेयस्कर है।

D दिशा-बोध :

परन्तु `जहाँ चाह है वहाँ राह है' तो फिर आत्मार्थी ही इससे वंचित क्यों ? पुरुषार्थसे जब सभीको इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर `सत्य ही चाहिए अन्य कुछ नहीं' ऐसे दृढ़ निश्चयीसे सत्य आखिर कितने दिन दूर रहता ?? वैसा ज्ञानीधर्मात्माओंने भी कौल-करार किया ही है कि : ``**चैतन्यको चैतन्यमेंसे परिणमित भावना अर्थात् रागद्वेषमेंसे नहीं उदित हुई भावना - ऐसी यथार्थ भावना हो तो वह फलती ही है।**''

दैवयोगसे जैसे श्री महावीरस्वामीके जीवको उसके सिंहके भवमें सत् उद्‌बोधन हेतु दो चारणऋद्धिवन्त मुनिराज आकाशसे पृथ्वी पर उतरे थे, वैसे ही सन् १९४६में किसी महान मंगल बेलामें श्री सोगानीजीको किसी साधर्मीने, सोनगढ़में बिराजित दिगम्बर जैनधर्मके आध्यात्मिक सन्त श्री कहानजी स्वामीके प्रवचनोंको प्रकाशित करनेवाला मासिक `आत्मधर्म' पढ़नेके लिए दिया। प्रवचनप्रसादी स्वरूप सारगर्भित वाक्य `षट् आवश्यक नहीं, लेकिन एक ही आवश्यक है' ने उनके

अन्तरको झकझोर दिया, उन्हें गहरी चोट लगी। इसी वाक्यामृतके भावभासनसे मानो अनन्त कालसे अनन्त कर्तृत्वके बोझ तले दबी, छटपटाती उनकी आत्मा सहज उबर गई और उन्हें आत्मा भार मुक्त-सा हलका भासित होने लगा। अन्तरमें रोम-रोम झनझना उठा और स्वरलहरी निकली, अरे ! मिल गया ! जिस सत्यकी खोज थी, उसका विधि-प्रकाशक मिल गया। तत्क्षण ही उन्हें पूज्य गुरुदेवश्री और उनके मंगलकारी वचनोंके प्रति श्रद्धा व अन्तर प्रीति स्फुरित हुई और अहोभाव छलक उठा, मन भक्तिविभोर हो उठा। और उन्होंने `आत्मधर्म' में अंकित श्रीगुरुके भव्य चित्रको श्रद्धा-सुमनके रुपमें निम्न अर्घ अर्पित किया :

`उदकचन्दनतन्दुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकै;
धवलमंगलगानरवाकुले जिनग्रहे जिननाथ महंयजे।''

अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेवश्रीकी वाणीसे मुखरित रससे ओतप्रोत `आत्मधर्म' का प्रत्येक शब्द दिव्य ज्ञानका स्फोट, प्रत्येक पृष्ठ सहजानन्दकी ओर ले जानेवाला पथ-प्रकाश ! जैसे जैसे वे इसके पृष्ठ पलटते गये उनके वाच्य अवगाहनसे, अनादिरूढ़ व सर्व दोषोंका जनक मिथ्यात्व और अज्ञानकी शक्ति क्षीण होने लगी। ज्ञानग्रंथियाँ यथोचित खुलती गई। आत्माके अनन्त लोककी यात्राकी दिशा उन्हें स्पष्ट होने लगी।

यद्यपि उनके बुद्धिजन्य स्थूल विपर्यास तो निरस्त हो गये, तथापि विकट समस्या खड़ी हुई कि उस परम सत्य तक पहुँचा कैसे जाए ? तदर्थ काफी प्रयास किया, परन्तु समस्याका निवारण नहीं हो सका; स्वयंसे कोई समाधान - विधि नहीं सूझ रही थी, तो अब क्या किया जाये ? - ऐसी एक नई विचित्र उलझन उत्पन्न हो गई। एकाएक सहज ही गुरुदेवश्रीकी छविका मनमें आविर्भाव हुआ और तभी मार्गप्रकाशकके चरण-सान्निध्य और दर्शन हेतु उनका मन तड़प उठा, बस ! अब चैन कहाँ ? उस संतकी पवित्र चरणरजको अपने मस्तकपर

धारण करनेकी उनकी लालसा प्रतिक्षण तीव्रसे तीव्रतर हो चली।

D सद्‌गुरुका प्रत्यक्ष योग :

अंतत: वह चिरप्रतीक्षित सुमंगल घड़ी उदित हुई । श्री सोगानीजी सन् १९४६में प्रथम बार अपने आराध्य श्रीगुरुके पावन चरणोंमें पूर्णत: नत होने स्वर्गनगरी (-सोनगढ़) जा पहूँचे।

श्री सोगानीजीने अपने आराध्य साक्षात् चैतन्यमूर्तिकी पवित्र चरणरजको मस्तकपर चढ़ाने हेतु ज्यों ही अपना सिर नवाया तो उन्हें ऐसा महसूस हुआ मानों उनके अनादिरूढ़ मिथ्यात्वकी चूलें ढीली होने लगी हैं। और वे अपने श्रीगुरुकी दिव्य मुखमुद्राको भावविभोर होकर, मंत्रमुग्ध-से अपलक निहारते हुए उनकी पारदर्शी चिन्मय मुद्राका निदिध्यासन करते रहे तो लगा जैसे श्रीगुरुके तेजस्वी मुखमण्डलकी दीप्तिसे उनका उदयगत मिथ्यात्व भी वाष्पशील हो चला हो। - ऐसी जात्यंतर स्थितिने श्री सोगानीजीके अंतरआलोडनकी दिशा स्वकेन्द्री होने योग्य अन्तर अवकाश बना दिया, जिससे उनके ज्ञानने स्वरूप-निश्चय-योग्य क्षमता ग्रहण की, उधर आत्मरससे ओतप्रोत वक्ता श्रीगुरुकी दिव्यवाणी मुखरित हुई, और उन्हें प्रत्यक्ष सत्-श्रवणका प्रथम (अपूर्व) योग मिला।

D स्वरूप निश्चय :

जैसे चातक पक्षी स्वाति-बूँदके लिए `पी कहाँ...पी...कहाँ' की रट लगाये रहता है, वैसे ही श्री सोगानीजीको चिरकालसे `सत्य...सत्य' की अन्तर रटन लगी हुई थी। और जैसे चातककी प्यास केवल स्वाति-बिंदुसे ही बुझती है, वैसे ही उनके अन्तरमें धधकती-सत्यके अभावजन्य अशान्तिकी दाहको श्रीगुरुकी पियुष वाणीकी शीतल फुहारसे शीतलता सभव थी। और जैसे स्वाति-बिंदु सीपके सम्पुटमें पहुँचकर मोती बन जाता है, वैसे ही महान् मंगलमयी क्षणमें श्रीगुरुके श्रीमुखसे निर्झरित बोधामृत `ज्ञान अने राग जुदा छे' के भावको उन्होंने चित्तमें अवधारण किया जो अलौकिक चैतन्य चिन्तामणिके रूपमें प्रकटित

हुआ।

यद्यपि श्री सोगानीजीको गुजराती भाषाका ज्ञान नहीं था, फिर भी उन्हें पूज्य गुरुदेवश्रीकी गुजराती भाषासे कोई कठिनाई नहीं हुई। और वस्तुस्थिति भी यही है कि प्रयोगप्रधानी जीवको कोई भाषा बाधक नहीं बनती।

श्री सोगानीजीके लिए तो पूज्य गुरुदेवश्रीकी धर्मसभा ही मानों प्रयोगशालामें रूपांतरित हो गई। और उन्होंने वहीं अपना प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। तदर्थ उन्होंने `ज्ञान अने राग जुदा छे' के वाच्यका डोर संभाली और उसके सहारे वे वाच्यके अन्तरतलमें उतरे और गहरे उतरते चले गये; उन्होंने वहाँ वर्तते राग तत्त्वका सूक्ष्म परीक्षण किया, तो उन्हें वह विभावांश, मलिन, स्वभाव-विरूद्ध, दुःखरूप और आकुलतामय भाव भासित हुआ। और वहीं साथ वर्तते ज्ञान तत्त्वके अन्वेषण पर उन्हें वह स्वभावांश, स्वच्छ, स्वभावभूत, सुखरूप और निराकुलतामय भासित हुआ - ऐसे उन्होंने उक्त दोनों भावोंको यथार्थरूपसे पहचाना और वेदन पूर्वक उन दोनोंकी मूल जातिको समीचीनरूपसे सुनिश्चित किया। और फिर वे प्रगट ज्ञानांशमें वर्तते नित्य उदित सामान्यज्ञान परसे ज्ञानस्वभावमें सन्निहित अनन्त अनन्त गुण-समुद्रकी ओर बढ़े तो वहाँ उन्हें आश्चर्यकारी अनन्त विभूतियोंसे विभूषित चैतन्य मणि-रत्नोंसे छलकते अपने स्वभावकी झलक भासित हुई। - इस भाँति अपने ही ऐसे सत्यस्वरूपके निश्चयसे उन्हें `सिद्ध स्वभावी, अनन्त सुख धारक मैं ही ऐसा महान् पदार्थ !!' - ऐसा भाव भासित हुआ।

D अतीन्द्रिय स्वरूप-स्वानुभूति :

श्री सोगानीजीको अपने परमोपकारी सजीवन ज्ञानमूर्ति श्री गुरुकी भवान्तकारी मंगल प्रवचनप्रसादीरूप देशनासे प्रतिभासित निज परम तत्त्वकी अनहद आश्चर्यकारी अपूर्व महिमा प्रदीप्त हो उठी। जिससे उन्हें अपने परम चैतन्य तत्त्वका अभूतपूर्व रस व घोलन चालू हो

गया। अनादिसे सुषुप्त पुरुषार्थ संचेतित हुआ और उनका चैतन्यवीर्य स्फुरित हो उठा। तद्नुसार उनको निर्विकल्प तत्त्वकी धुन अति वेग पूर्वक चलती रही। कब दिन ढला, कब निशाने अपनी काली चादर फैलाई, कुछ भान नहीं रहा; उन्हें सभी उदय संयोग-प्रसंग विस्मृत हो गये; बस ! अनवरत एक ही धुन चल रही थी।

जब जगत्वासी नीरव निशीथिनीके अंकमें समा चुके थे तब वे `समिति' के एक कमरेके कौनेमें बैठे अपने उद्दीप्त हुए चैतन्य-रसके प्रवाहमें निमग्न थे। उनका स्वरूपोन्मुखी सहज पुरुषार्थ पुरजोशसे गतिशील था। - ऐसी अपूर्व जात्यन्तर अन्तर स्थितिवश उनके सभी अन्तर्बाह्य प्रतिबन्धक कारण भी स्वयमेव अस्त हो गये। तभी तत्क्षण वृद्धिशील पुरुषार्थ-प्रवाह अपूर्व वेगसे वर्धमान हो अन्तर्मुख हो गया और उसी क्षण श्री सोगानीजीकी आत्माने अपने स्वसंवेदनमें रह कर, अपने प्रत्यक्ष परमात्माका दर्शन किया; और उन्हें अपने अतीन्द्रिय स्वरूपकी स्वानुभूति हुई। और तत्काल ही उनके आत्माके प्रदेश-प्रदेशमें अतीन्द्रिय स्वरूपानन्दकी बाढ़ आ गई। अनादिसे अतृप्त परिणति स्वरूपानन्द-पानसे तृप्त-तृप्त हो उठी।

जिनवाणीका निर्मल अमृत-प्रवाह उनकी अनादि कुंठाकी चट्टान तोड़कर छलछला उठा। विकल्प-समुद्रका गर्जन-तर्जन जैसे अनायास ही शान्त होकर थम गया। वे ऐसी भाव समाधिमें स्थिर हुए जहाँ न संकल्प था न विकल्प; न प्रवृत्ति थी न निवृत्ति; न मैं था न तू। रह गया केवल अनहदमें शाश्वत शान्तिका साम्राज्य।

श्रीगुरु-मिलनके प्रथम दिन ही नीरव निशाके अपार अन्धकारमें उदित ज्ञानके प्रकाशमें इस अनुपम पुरुषार्थीको यों निर्विकल्प दशा सम्प्राप्त हुई। अपने परमोपकारी श्रीगुरुकी निष्कारण कृपा-प्रसादी पाकर श्री सोगानीजीकी आत्मा निहाल हो गई।

अपूर्व, अनुपम अमृत-रस पी लेनेसे उसकी मस्तीने उन्हें मदहोश-सा बना दिया। निरन्तर यही भावनाका संवेग वर्तता कि मैं भावी

सर्व काल पर्यन्त इसी ज्ञानानन्दकी मस्तीमें डूबा ही रहूँ और बस, निरन्तर आनन्दामृत पान करता रहूँ।

जब तक वे सोनगढ़ रहे दिनमें पूज्य गुरुदेवश्रीकी स्वानुभवरसमय पुरुषार्थ प्रेरक वाणीका अमृत-बोध लेते और रात्रिमें अपने कमरेमें बैठ निजात्मरस-पानका उद्यम किया करते चेतनाके ऊर्ध्व शिखरोंकी ओर उनका आरोहण होता रहता। और सतत स्वरूपरस-घोलन चलता रहता। वे आत्माकी ही धुनमें रमे रहते और निरन्तर आध्यात्मिक तन्द्रा बनी रहती।

इस तरह एक-एक पल सरकता गया और न जाने कब १०-१२ दिन निकल गये, उन्हें पता ही न था। तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल-जन्य हिंसात्मक दंगोंकी भयावह परिस्थितिमें भी वे श्रीगुरुके दर्शनार्थ इतने भावावेगमें थे कि उन्होंने परिवारवालोंको अपने सोनगढ़ जानेके सम्बन्धमें सूचना तक नहीं दी थी। घरवाले यही समझते रहे कि कारोबारके सिलसिलेमें कहीं गये हैं और दो-चार दिनोंमें लौट आयेंगे। किन्तु जब हफ्ते-दस दिनों तक भी उनका कोई समाचार तक नहीं मिला तो वे चिंतातुर हो उठे। काफी छानबीन करनेपर जब उनकी सोनगढ़ जानेकी प्रबल सम्भावनाका आभास मिला तब उनके चिंतातुर परिवारने एक तार सोनगढ़ भी दिया। उस तारके सन्देशने श्री सोगानीजीकी आध्यात्मिक तन्द्रामें विक्षेप डाल दिया। और उन्हें मजबूरन् अपने भवमोचक श्री गुरुके साक्षात् चरणसान्निध्यको छोड़कर अजमेर लौटना पड़ा।

D सहज उदासीनता :

श्री सोगानीजीको ज्ञानदशा पूर्व भी संसाराशक्ति नहीं थी। उन्हें सांसारिक प्रसंगोंमें कहीं कोई रस, रुझान या रुचि नहीं रहती थी। उनके बच्चे किन-किन स्कूलोंमें व श्रेणियोंमें पढ़ते हैं ? उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा व विकासकी क्या व्यवस्था है ? घर-गृहस्थीकी आवश्यकताओंकी सम्पूर्ति हेतु क्या योजना है ? - इत्यादि अनेक

प्रश्न व उलझनें जहाँ सामान्य मानवके अन्तर् मनको प्राय: व्यथित व कचोटते रहते हैं, वहाँ ऐसे प्रश्नोंने उनकी अन्तर्मुख मनोदशाको कभी आन्दोलित या विचलित नहीं किया।

सोनगढ़से लौटनेके पश्चात तो उनके परिणामोंमें एक विशेष प्रकारकी उदासीनता घिरी रहने लगी और निर्लिप्त भावसे परमानन्दकी खुमारी निरन्तर वर्तने लगी। सर्व पूर्व प्रारब्ध उदय-जन्य सांसारिक उपाधियों व झंझटोंकी ओर अस्थिरतावश जाता उनका उपयोग भी, उन्हें वर्तती सहज स्वरूपपरिणतिको, भाररूप प्रतीत होता व उसमें भट्टीमें जलनेसी पीड़ाका वेदन होने लगता था। तथापि सर्व उदयगत् विभावभावोंको, निरुपायतावश अविषम परिणामसे वेदते रहना ही उनकी नियति थी। तत्त्वत: सहजता, सहज समता व सहज उदासीनता सर्व ज्ञानीपुरुषोंका सनातन सदाचार होता है।

D कलकत्ता प्रवास :

निवृत्ति लेकर, श्रीगुरु-चरणसान्निध्यमें रहकर ऐकान्तिक स्वरूप-साधनाके प्रति श्री सोगानीजीको असीम आकर्षण व भावना वर्तती थी; फिर भी उन्हें नियतिके पाशमें बँधकर, लाचारीसे सन् १९५० में अजमेर छोड़ना पड़ा; औप अपनी भावनाके अत्यन्त प्रतिकूल क्षेत्र-असत्संग-प्रसंगके बाहुल्यसे घिरे व कोलाहलयुक्त, मायामयी महानगर `कलकत्ता' में एक प्रसिद्ध कपड़ा मिलकी एजेन्सीके कार्यभारवश जाना पड़ा। सन् १९५८में उनका पूरा परिवार भी कलकत्ता आ बसा। और उक्त वस्त्र व्यवसायकी प्रवृत्तिमें उनका बाह्य शेष जीवन भी कलकत्तामें ही व्यतीत हुआ ।

इसी बीच उन्होंने सत्संगकी भावनासे सन् १९५३ से कलकत्ता स्थित बड़े मन्दिरजीमें शास्त्रस्वाध्यायकी प्रवृत्ति शुरू की थी। तथा अन्तिम वर्ष (सन् १९६४) में भी उन्होंने लगभग ४० दिनों तक सामूहिक शास्त्र-स्वाध्याय किया था।

सन् १९५६ में अपने जीवन-उद्धारक पूज्य गुरुदेवश्री कहानजी

स्वामीके तीर्थयात्राके प्रसंगमें कलकत्ता पधारनेके पूर्व जब उनके भव्य स्वागतार्थ कलकत्तामें मुमुक्षुमण्ड़लकी स्थापना हुई तो उसके प्रथम अध्यक्षके रूपमें भी सोगानीजीको मनोनीत किया गया था।

D अन्तर वैराग्य :

जब श्री सोगानीजी शुरुआतमें कलकत्ता आये तब इस भागदौड़ व दावँ-पेचवाली नगरीकी ६०-७० लाखकी आबादीमें उनके पास न रहनेके लिए स्थायी जगह थी और न खाने-पीने आदिकी कोई समुचित व्यवस्था; फिर भी, ऐसी प्रतिकूलतामें भी उन्हें भान होता कि मानों इस अथाह मानव-समुदायमें `मैं एक अकेला ही सुखी हूँ', अरे ! निश्चित ही वे सुखी थे। आत्मानन्दका रसास्वाद करनेवाला स्वयंको सुखी ही क्या, सर्व सुखी महसूस करता है।

उन्हें संसार अरुचिकर था, फिर भी इस संसारके कीचड़में उन्हें फँसना पड़ा। पूर्व निबन्धित प्रारब्धवश आ पड़े इस सांसारिक कीचड़में अपने जड़ शरीरका योग देते हुए भी उनकी आत्मा निरन्तर अपने घोलनमें रहती। जब-जब भी उदयगत बाह्य संसार उन्हें अपनी ओर खींचता, गृहस्थीके जंजाल अपनी ओर आकर्षित करते तो वे यही कहते थे : `अरे मुझसे कुछ भी आशा मत रखो, पंगु समझकर दो समयका भोजन शरीर टिकानेके लिए दो।'

श्री सोगानीजीकी बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता व नीति सम्पन्नताके कारण उनके पास जब तब नये व्यवसायके अनेक प्रस्ताव आते थे परन्तु उपाधिको सीमित रखनेकी भावनावश वे ऐसे प्रस्तावोंको टाल दिया करते थे; यद्यपि उन्हें परिवारकी आवश्यकताओंके बढ़ते बोझका खयाल था।

यद्यपि पूर्व अज्ञानदशामें निबन्धित कर्मोंके कारण उनका सांसारिक-प्रवृत्तियोंसे बाह्य सम्बन्ध तो नहीं टूट सका, बलवान उपाधियोग अन्त तक बजा रहा, वे सर्व उपाधियोंके बीच निर्लिप्त रहते हुए भी प्रवृत्तिका भार ढ़ोते रहे; तथापि उनकी आत्म-समाधिधारा जीवन पर्यन्त

अबाधित वर्तती रही। ज्ञानधारा व कर्मधारा निरन्तर प्रवहमान रही। सहज पुरुषार्थ वर्धमान होता रहा। जीवन पर्यन्त सहज उदासीनता व अन्तर वैराग्य उनके परिणामोंमें उग्रतासे वर्तता रहा। एक ओर उनकी प्रवर्तती उग्र अध्यात्मदशा व दूसरी ओर प्रबल उपाधियोगका परिचय उन्हींके पत्रोंसे मिलता है। ज्ञानीकी ऐसी चित्र-विचित्र व अटपटी दशाओंके अनेक पहलुओंको प्रदर्शित करते श्री सोगानीजीके पत्रोंके कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं :

* `मैं त्रिकाली सहज ज्ञानस्वभावी ध्रुव पदार्थ हूँ व प्रतिक्षण ज्ञानरूप परिणमन मेरा सहज स्वभाव है; जड़ आश्रित परिणाम जड़के हैं।' पूज्य गुरुदेवश्री के इस सिद्धांतकी घूँटीने क्षणिक परिणामकी ओरके वलणके रसको फीका कर दिया है व सहज स्वके सिवाय कोई कार्यमें रस नहीं आता है।' (पत्रांक : १, अजमेर/२२-३-१९४९)

* `यहाँ संग असत्संगका है, उदय नीरस है। वहाँ (-सोनगढ़) का योग निकट भविष्यमें होनेके आसार दिखाई नहीं देते, अत: अत्यन्त उदासीनता है व व्यवहारमें तो बेभान-सी दशा हो जाया करती है।' (पत्रांक : ७, कलकत्ता/१८-५-१९५३)

* `स्वसंग, गुरुसंग व मुमुक्षुसंगके अलावा दूसरे संगको नहीं इच्छते हुए भी, अरे प्रारब्ध ! विष-तुल्य संगमें रहना पड़ रहा है, खेद है।' (पत्रांक :९, कलकत्ता/५-७-१९५३)

* `मोक्षमार्गीको कुटुम्बीजनों मध्ये सुख मिलता होवे यह कल्पना ही गलत है।

`जाल सौ जग-विलास, भाल सौ भुवन वास,
काल सौ कुटुम्ब काज, लोक-लाज लार सी।।' (श्री बनारसीदास)

उसे तो निरन्तर आत्म-रमणता चाहिए। `अरे जिसे धार्मिक जनोंके संग भी नहीं रुचते, उसे कुटुम्बसंग तो रुच ही कैसे सकता है?' (पत्रांक : १७, कलकत्ता/२५-७-१९५४)

* `व्यवहारसे व खास तौरसे अशुभ-योगसे पूर्ण निवृत्ति चाहते

हुए भी, गृहस्थ आदि व्यावसायिक जंजालोंका ऐसा उदय है कि मन नहीं लगे वहाँ लगाना पड़ रहा है, बोलना नहीं चाहते उनसे बोलना पड़ता है, ऐसी योग्यता है।'

(पत्रांक : २६, कलकत्ता/१६-१२-१९६१)

D सत्संग भावना :

श्री सोगानीजीको अपने श्रीगुरुके चरणोंमें निवासकी भावनाका प्रबल आवेग रह रह कर उद्वेलित करता रहता था; तथापि पूर्व प्रारब्धयोगके बिना उन्हें सांसारिक जंजालोंसे विमुक्त हो सकनेका योग नहीं बनता था। यद्यपि वे सर्व प्रथम सोनगढ़ आये थे तब ही उनकी तीव्र भावना थी कि `कोई मकानका प्रबन्ध कर निरन्तर गुरुदेवके चरणोंमें लाभ उठाऊँ' (देखें पत्रांक - १९) परन्तु वैसा योग तो नहीं बन पाया; बल्कि कभी-कभी तो लम्बे अन्तरालके पश्चात् ही श्रीगुरुके दर्शनोंका योग बनता था।

श्री सोगानीजी सर्व प्रथम सन् १९४६में सोनगढ़ पधारे थे; तत्पश्चात् उनका सोनगढ़ आनेका योग क्रमश: सन् १९४८, १९५३, १९५९, १९६०, १९६१, १९६२, १९६३ ही बन पाया था और वह भी मात्र थोड़े-थोड़े दिनोंके लिये ही। अभिवांछित योग न मिलनेके प्रति उन्हें निरन्तर खेद वर्तता रहा। उन्हें अपने श्रीगुरुके चरण-सान्निध्यमें न रह पानेकी कितनी वेदना सालती थी, जिसकी झलक उनके पत्रोमें मिलती है। उदाहरणार्थ :

* `पू. गुरुदेवकी स्मृति इस समय भी आ रही है व आँखोंमें गर्म आँसू आ रहे हैं कि उनके संग रहना नहीं हो रहा है।'

(पत्रांक : ४, कलकत्ता/२१-६-१९५३)

* `यहाँ तो पुण्ययोग ही ऐसा नहीं है कि वहाँ (सोनगढ़) का लाभ शीघ्र-शीघ्र मिला करे । निवृत्तिके लिए जितना अधिक छटपटाता हूँ उतना ही इससे दूर-सा रहता हूँ, ऐसा योग अबके हो रहा है। कई बार तो फूट-फूट कर रोना-सा आ जाता है। शायद ही कोई

दिवस ऐसा निकलता है कि बारम्बार वहाँ का स्मरण नहीं आता होवे।' (पत्रांक : ८, कलकत्ता/२८-६-१९५३)

* `अरे विकल्प ! यदि तुझे तेरी आयु प्रिय है तो अन्य सबको गौण कर व गुरुदेवके संगमें ले चल, वरना उनका दिया हुआ वीतरागी अस्त्र शीघ्र ही तेरा अन्त कर डालेगा।'

(पत्रांक : ९, कलकत्ता/५-७-१९५३)

* `रह-रह कर विकल्प होता रहता है कि कमसे कम एक-दो वर्ष निरन्तर अलौकिक सत्पुरुषके सहवासमें रहना होवे, परन्तु प्रारब्ध अभी ऐसा नहीं दिखता है।'

(पत्रांक : १४, कलकत्ता/१-२-१९५४)

* `पुण्ययोग नहीं है, वहाँ (-सोनगढ़) का संयोग नहीं है, अरुचिकर वातावरणका योग है । महान् अफसोस है।'

(पत्रांक : १५, कलकत्ता/ २५-६-१९५४)

* `हे प्रभो ! शीघ्र इधरसे निवृत्ति होकर गुरु-चरणोंमें रहना होवे, जिन्होंने अखण्ड़ गुरुवासमें चरना सिखाया है, यह ही विनती।'

(पत्रांक : २७, कलकत्ता/ ९-४-१९६२)

D निवृत्ति भावना :

वस्तुत: निवृत्तिकी तीव्र अभिलाषा सर्व ज्ञानी पुरुषोंको निरन्तर वर्तती ही है। श्री सोगानीजी भी निवृत्तिके लिए सतत छटपटाते रहे, निवृत्तिके लिए योजना घड़ते परन्तु वैसे पुण्ययोगके अभावमें वे फलित न हो पाती; तथापि निवृत्तिकी भावना कितनी बलवती थी और उसकी वार्ता भी उन्हें कितनी रुचिकर थी, उसका परिचय निम्न उद्धरणसे स्पष्ट मिलता है :

* `आपने लिखा था कि अब निवृत्ति काल पका - यह पढ़कर बिजलीके वेगकी तरह आनन्दकी लहर आई थी; कारण पूर्वे निवृत्ति ही विकल्परूपसे निश्चये भजी थी; ऐसा पूरा प्रतीतिमें आता है।

(पत्रांक : २९, कलकत्ता/३-९-१९६२)

D एकान्त प्रियता :

श्री सोगानीजीको एकान्तवास अति रुचिकर था। वे जहाँ तक सम्भव होता वहाँ तक किन्हीसे मिलना-जुलना व परिचयमें आना पसन्द नहीं करते थे। वे जहाँ हो वहाँ एकांत खोजते रहते। प्राय: उन्हें अपने कमरेमें बन्द रहना ही अभीष्ट था। भीड़ व कोलाहलभरे वातावरणमें उनका दम घुटने-सा लगता था।

उनके परिवारके कलकत्ता आ जानेके पहले जब भी ३-४ दिनोंकी छुट्टियोंमें बाजार आदि बन्द रहनेकी वजहसे बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं समझते तो वे ढाबेसे भोजनकी थाली अपने कमरेमें ही मँगा लेते और एक बारमें जो भी खाना थालीमें आता उसे ही खा कर, थाली कमरेके दरवाजेके बाहर सरका देते। यों ऐसे प्रसंगों पर वे अपने निवासस्थानसे तीन-तीन चार-चार दिनों तक बाहर ही नहीं निकलते।

वे लम्बी अवधि तक कलकत्ता रहे फिर भी खास परिचित मार्गोंके अलावा दूसरे मार्गोंसे अपरिचित ही रहे।

जब सन् १९५३ के श्री बाहुबली-महा मस्तकाभिषेक समारोहके समय एकांतवासकी यह समस्या जटिल थी तो वे देर रात गये अकेले ही पहाड़के ऊपर चढ़ जाते और वहीं पूरी रात अपने स्वरूपके ध्यान-घोलनमें गुजार देते, तथा फिर प्रात: ही पहाड़से उतरकर कमरे पर आते।

एकान्तवासके प्रति रुझानके परिणाम स्वरूप बाह्य जगत उनके लिए अपनी उपस्थिति खोता जाता था।

तत्त्वचर्चाके दौरान एक बार उन्होंने बतलाया कि `मुझे तो एकांतके लिए समय नहीं मिले तो चैन ही नहीं पड़ता।' ...`आखिर तो एकांत (अकेला) ही सदा रहना है। तो शुरूसे ही एकांतका अभ्यास दो-चार-पाँच घण्टा चाहिये।'

D श्री सोगानीजीकी दृष्टिमें सांसारिक प्रसंग :

समस्त लोक समुदाय विवाह जैसे प्रसंगको मांगलिक, शुभ व आनंद-उमंगका महत्वपूर्ण अवसर मानता है। परन्तु श्री सोगानीजीने एक अंतरंग साधर्मीको अपने पुत्रके विवाहका निमन्त्रणपत्र भेजा अवश्य, पर साथमें जो विचार उन्होंने लिखे उससे उनकी सांसारिक-प्रसंगोंकी तुच्छता और सत् प्रतिकी अनन्य महिमा ही उजागर होती है। तदर्थ पत्रांक : २७, कलकत्ता/९-४-१९६२ का निम्न उद्धृत अंश द्रष्टव्य है :

* 'बड़े पुत्रकी शादी ता. १६-४ की है; पुण्यवानोंको शुभप्रसंगका योग है, उन्हें अशुभ प्रसंग पर बुलवाना ठीक नहीं है; फिर भी लौकिक व्यवहारवश दो पत्रिकाएँ भिजवाई हैं।'

D निर्मानता :

सर्व लौकिकजनोंको जहाँ हो वहाँ - घर, परिवार, समाजमें सर्वत्र अपने प्रभुत्व-मान-सन्मान-स्थान प्राप्तिकी अन्तरंग अभिलाषा निरन्तर वर्तती है। वहीं सच्चे आत्मार्थीकी ऐसे सभी प्रसंगोंसे दूर रहनेकी सहज वृत्ति रहती है। यदि उसकी विशेष योग्यता हो तो भी वह उसे गोपित रखना चाहता है। अपनी प्रसिद्धिका अभिप्राय उसे नहीं रहता। श्री सोगानीजीकी आत्मदशा अद्भुतरूपसे वर्तती थी परन्तु वे उसे प्रसिद्ध नहीं करना चाहते थे। फिर भी उनसे एक अन्तरंग साधर्मीने दूसरे ढंगसे अनुरोध किया कि : पूज्य गुरुदेवश्रीके निमित्तसे आपको आत्मबोध हुआ है, इस बातको जानकर उन्हें सहज प्रसन्नता होगी, अत: आपकी ज्ञानदशाके बारेमें गुरुदेवश्रीको बतलानेका विकल्प है। तब उन्होंने कहा : 'कोई जाने न जाने, इसमें आत्माको कोई फायदा नहीं है। अनन्त सिद्ध हो गये हैं, (लेकिन) आजकल कोई उनके नाम तक भी नहीं जानता है। असंख्य सम्यग्दृष्टि (तिर्यंच) ढाई द्वीप बाहर मौजूद हैं, उन्हें कौन जानता है।' उनका यह प्रत्युत्तर उनके वर्तते निम्न अभिप्रायके अनुरूप ही था। यथा :

`फूल बागमें हो या जंगलमें, उसको कोई सूँघो या न सूँघो, उसकी कीमत तो स्वयंसे है, कोई सूँघे तो उसकी कीमत बढ़ नहीं जाती अथवा नहीं सूँघे तो वह मुरझा नहीं जाता। इसी तरहसे कोई अपनेको जाने या न जाने उससे अपना मूल्य थोड़ा ही है? अपना मूल्य तो अपनेसे ही है। कोई मान-सन्मान देवे, न देवे-सब धूल ही धूल है, उसमें कुछ नहीं है।'

D निस्पृहता :

श्री सोगानीजी जिस कपड़ा मिलकी एजेन्सीका व्यवसाय करते थे उस मिलके मालिकको एकबार जब उनके धर्म-प्रेम व योग्यताका पता चला तो उन्होंने कौतूहलवश उनको जब तब अपने घर आकर धर्म समझानेको कहा। परन्तु उन्होंने उनमें वास्तविक धर्म-जिज्ञासाका अभाव तथा कौतूहलता देखकर, समयाभावके बहाने उनके उक्त प्रस्तावको टाल दिया। श्री सोगानीजीके मनमें तो (बादमें उन्हीं के बतलाए अनुसार) यों विचार आया कि : यह तो सांसारिक आवश्यकता पूर्ति हेतु उनके पास आनेकी विवशता है; अन्यथा ऐसे कार्योंके लिए आत्मार्थीके पास समय ही कहाँ ? जहाँ ऐसी परिस्थितिमें सामान्य लौकिक जन जिनसे अपने अर्थ-प्रयोजनकी सिद्धिकी अपेक्षा रहती है वे उनके अनुरूप वर्तन करते हैं, वहीं श्री सोगानीजीका उक्त प्रकारका वर्तन उनकी निस्पृहवृत्तिको उजागर करता है।

D तत्त्व-प्रेम :

तत्त्व-प्रेमी जिज्ञासुओंके प्रति श्री सोगानीजी इतने करुणावन्त थे कि व्यावसायिक व निजी प्रवृत्तियोंके बीच भी समय, स्थान आदि सब बातोंको गौण कर उनकी जिज्ञासाओंका समाधान कर दिया करते थे। कई बार तो वे सड़कके किनारे खड़े-खड़े ही काफी देर तक धर्म-चर्चा करते रहते थे।

उनका एक मुमुक्षुसे व्यावसायिक सम्बन्ध भी था, उससे व्यापारिक कार्य यथाशीघ्र निपटा कर वे धर्म-चर्चामें लग जाते थे।

वे आखिरके वर्षोमें धार्मिक प्रसंगोंके अवसर पर मुमुक्षुओं द्वारा घिरे रहने लगे, परन्तु समय मिलते ही अकुलाए बिना उनके प्रश्नोंके उत्तर दिया करते थे।

रुचिवन्त अन्तरंग परिचयवाले साधर्मियोंके साथ तो उन्हें देर रात गये तक धर्म-चर्चामें व्यस्त देखा जाता था।

व्यवसायिक कामसे थक कर लौटने पर भी यदि कोई मुमुक्षु तत्त्व-जिज्ञासा लिए घर पहुँच जाता तो वे तत्काल उसकी उलझन दूर कर देते थे।

D निश्चय-व्यवहारसंधि युक्त जीवन :

सर्व ज्ञानीधर्मात्माओंकी साधक परिणतिमें निश्चय-व्यवहारका अद्‌भुत सामंजस्य वर्तता है। तत्त्वत: साधकदशाका ऐसा ही यथार्थ स्वरूप होता है। निश्चय-व्यवहाररूप प्रवर्तती धर्मदशाके संतुलन व सुसंगत संधिके आधारसे ही धर्मात्माकी दशाका प्रमाणीकरण होता है। श्री सोगानीजीकी इन दोनों दशाओंके बीच वर्तते सम्यक् संतुलनके प्रमाण उनके पत्र है। यथा :

* `सत्‌गुरु द्वारा प्राप्त अनुभव ऐसे कालमें विषमता आदिको समतापने वेदे व अप्रतिबद्ध स्वभावसन्मुख तीव्र वेग करे, यह ही सबसे श्रेष्ठ है व शीघ्र मनोरथ पूर्ण होनेका यह ही शुभ लक्षण है।'

(पत्रांक : ७, कलकत्ता/१८-५-१९५३)

* `अहो गुरुदेव ! आपने तो इन दोनोंसे (पुण्य-पापसे) ही निराली वृत्ति दिखा दी है, जो कि इनके होते हुए भी विचलित नहीं होती, खूँटेके (ध्रुवके) सहारेसे डिगती नहीं है, उसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका प्रतिबन्ध नहीं है। पू. गुरुदेव कहते हैं कि जो कुछ लाभ है सो तो यह वृत्ति ही है, अनन्त सुखोंके पिण्डके साथ रहती है, फिर चिन्ता काहे की ? यह तो स्वयं स्वभावसे ही चिन्ता रहित है, निश्चिंतवृत्तिमें चिन्तित वृत्तिका तो अत्यन्त अभाव है। हे भगवान ! आपकी यह

वाणी मस्तिष्कमें नित्य घूमती रहे, यह ही भावना है।

(पत्रांक : १५, कलकत्ता/२५-६-१९५४)

* `प्रदेशे-प्रदेशे मैं मात्र चैतन्य-चैतन्य व आनन्द ही आनन्दसे ओतप्रोत वस्तु हूँ। स्वरूपरचना पर्यायमें स्वत: ही हुए जा रही है। इच्छा तोड़ूँ, स्वरूपकी वृद्धि करुँ आदि विकल्पोंका जिस सहज स्वभावमें सहज ही अभाव है। अरे ! सहज शुद्ध पर्यायका भी जिस त्रिकाली ध्रुव वस्तुमें सहज ही अभाव है, ऐसी नित्य वस्तु मैं हूँ, त्रिकाली परिपूर्ण हूँ।' (पत्रांक : १७, कलकत्ता/२५-७-१९५४)

* `परिणतिको आत्मा ही निमित्त होवे अथवा भगवान .... भगवानकी गुंजार करते आप (- श्री कहानजी स्वामी), अन्य संग नहीं, यह ही भावना।' (पत्रांक : २६, कलकत्ता/१६-१२-१९६१)

* `विकल्पोंको तो धधकती हुई भट्ठीके योगोंका निमित्त है व इस मध्ये ही रहना हो रहा है, जबकि चैतन्यमूर्ति विकल्पोंको छूनेवाली भी नहीं; अधूरी दशाके विकल्पांशोंमें श्रद्धामें जमी हुई मूर्तिका एकरस आलिंगन कहाँ ?' (पत्रांक : २९, कलकत्ता/३-९-१९६२)

* `वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ । वर्तमानसे ही देवादिक पर अथवा उन आश्रित रागसे किंचित् मात्र लाभका कारण नहीं । लाभ मानना ही अलाभ है।' (पत्रांक : ३०, कलकत्ता/८-११-१९६२)

यों श्री सोगानीजीके व्यक्तित्वमें एक ओर निश्चय प्रधानताकी विस्मयकारी शैली व दूसरी ओर गुरुभक्ति व निमित्तका यथार्थ मूल्यांकनका अत्यन्त सुन्दर व स्वाभाविक सन्तुलन तैरता है, जो आत्मार्थियोंके लिए सतही तौर पर विरोधाभास दिखनेवाले ऐसे अभिप्रायमें अंतर्निहित परिणामकी अविनाभावी व सहज यथार्थ दिशारूप पहलूके रहस्यको समझनेमें अत्यन्त सार्थक निमित्त है। यों वीतरागमार्गके पथिक ही भक्ति व गुरु-महिमाके आवरणमें छिपे निजरसको यथार्थत: संवेदित करते हैं।

D गुरु-भक्ति :

यद्यपि श्री सोगानीजीने निरपवादरूपसे स्वतत्त्वकी सर्वोच्चता व एकमात्र उसीके अवलम्बनको मुक्तिमार्गके रूपमें सर्वत्र गाया है, तथापि जिन श्री गुरुके निमित्तसे उन्होंने अनादि संसारके एकच्छत्री सरदार दर्शनमोहको परास्त कर, मोक्षमार्गके प्रथम सोपानको पाया है; उनके अनहद उपकारके मूल्यांकनवश साधकके हृदयमें किस असाधारण सर्वार्पणता, भक्ति, महिमा, विरह-वेदन स्पंदित व संवेदित होती रहती है उसका विस्मित-सा कर देनेवाला जीवन्त उदाहरण भी उन्हींके पत्रोंमें सुस्पष्ट मिलता है । यथा :

* `वहाँ (-सोनगढ़)की धूलके लिए भी तड़पना पड़ता है। गुरुदेवके दृष्टांत अनुसार भभकती भट्टीमें गिरनेका-सा प्रत्यक्ष अनुभव यहाँ एक दिनमें ही मालूम होने लग गया है। धन्य है वहाँके सर्व मुमुक्षु, जिनको सत्पुरुषका निरन्तर संयोग प्राप्त है।'

(पत्रांक : ६, अजमेर/१८-४-५३)

* `हे गुरुदेव ! आपकी वाणीका स्पर्श होते ही मानो विश्वकी उत्तमोत्तम वस्तुकी प्राप्ति हो गई। क्या मैं मुक्त होनेवाला हूँ। अरे ! शास्त्रोंमें जिस मुक्तिकी इतनी महिमा बखानी है, उसे आपके शब्द मात्रने इतना सरल कर दिया।'

(पत्रांक : १७, कलकत्ता/२५-७-१९५४)

* `भरतखण्डका अलौकिक कर्ता-कर्म अधिकार, आत्मरससे ओतप्रोत वक्ता, साधक मुमुक्षुगण श्रोता, जिनालयकी सामूहिक भक्ति, निरन्तर अमृतवाणीसे संस्कारित - तृप्त भूमिस्थान आदि समवसरण-से दृश्य पुण्यहीनको नहीं सम्भवते, अत: वियोग है।'

(पत्रांक : २४, कलकत्ता/१९-१०-१९६१)

* `शुभयोगमें भी थकान अनुभव करनेवाले जीवके लौकिक योगकी तीव्र दु:ख दशा पर.. हे करुणासिंधु ! करुणा करो...करुणा करो, यह ही विनती।' (पत्रांक : २४, कलकत्ता/१९-१०-१९६१)

* `सतत दृष्टिधारा बरसाते, अखण्ड़ चैतन्यके प्रदेश-प्रदेश सहज महान् दीपोत्सवकी क्षणे-क्षणे वृद्धि करते श्री गुरुदेवको अत्यन्त भक्तिभावे नमस्कार।' (पत्रांक : २५, कलकत्ता/१-११-१९६१)

* `दरिद्रीको चक्रवर्तीपनेकी कल्पना नहीं होती। पामरदशावालोंको `भगवान हूँ...भगवान हूँ' की रटण लगाना, हे प्रभो ! आप जैसे असाधारण निमित्तका ही कार्य है।'

(पत्रांक : २६, कलकत्ता/१६-१२-१९६१)

* `अत: तीर्थंकरसे भी अधिक सत्पुरुषका योग प्राप्त हुआ है, जिनकी नित्य प्रेरणा उधरसे विमुख कराकर स्वयंके नित्य भण्डारकी ओर लक्ष्य कराती रहती है, यहाँ से ही पूज्य गुरुदेवके न्याय अनुभव सिद्ध होकर दृढ़ता प्राप्त कराते हैं।'

(पत्रांक : ४४, कलकत्ता/१०-९-१९६३)

D अध्यात्म-दशा :

यद्यपि विकल्पात्मक वृत्तियोंका तो सहज ही अनुमान कर लिया जाता है परन्तु निर्विकल्पताका माप तो बाह्यसे नहीं किया जा सकता है, वह तो स्वयंके अनुभवका विषय है। और अनुभव लेखनीमें व्यक्त करना अशक्य होता है। तथापि श्री सोगानीजीने अपनी प्रवर्तती अध्यात्मदशाको अनुपम पद्धतिसे यत्किंचित् इंगित किया है। उनकी अंतर्दशाके परिचयार्थ उनके पत्रों व अन्य प्रसंगोंको सूक्ष्मतासे निरीक्षण करें तो उसकी प्रतीति सहज ही हो जाती है।

उनकी आत्मपरिणति स्वस्वरूपमें उग्रतासे जमी रहती, निरन्तर स्वरूपरस प्रगाढ़ होता रहता और स्वरूपघोलन व उसकी धुन अनवरत चलती रहती थी। तादृश उनके मन-वचन-काय योग भी इतने उपशमित थे कि जिससे वे जनसमुदायमें भी किसी पैनी नजरवालेके द्वारा सहज पहचाननेमें आ सकते थे।

उदाहरणार्थ : बम्बईमें एकबार वे एक मुमुक्षुके यहाँ भोजन करने गये, वहाँ अन्य लोग भी आमंत्रित थे, जब भोजनके पश्चात् सभी

चले गये तब उसके वयोवृद्ध रसोईयाने उत्सुकतावश पूछा कि वे एक नये व्यक्ति कौन थे ? उस मुमुक्षुने इस प्रश्नका कारण जानना चाहा तो रसोईवालेने कहा कि अपनी जिंदगीमें मैंने अपने हाथों हजारों लोगोंको जिमाया है परन्तु आज पहली बार एक प्रतिमाको जिमाया है। वह 'प्रतिमा' श्री सोगानीजी थे।

यद्यपि वे बाह्यमें खाने-पीने-बोलने-चलने आदिकी प्रवृत्तियोंमें दिखलाई देते, तथापि उनके गाढ़ अन्तरंग परिचितोंको ऐसा स्पष्ट खयाल आता कि उनकी आत्मपरिणति अन्तरमें अति आश्चर्यकारी रूपमें जमी हुई है।

अपने निवास स्थानमें भी उन्हें अपनी शारीरिक आवश्यकताओंका खयाल तक नहीं रहता था। अपने वस्त्रों आदिका भी उन्हें पता नहीं रहता था। घरमें क्या है और क्या नहीं, इसकी जानकारी उन्हें नहीं रहती थी। जो आमदनीकी रकम उनको मिलती वे उसे अपनी धर्मपत्नीको सोंप देते।

उन्हें स्वरूपध्यान-घोलनकी मुख्यता वर्तती थी और अन्य सबकी गौणता, फिर वह चाहे भोजन हो या व्यवसाय या फिर कुछ अन्य। वे अपने कमरेसे बाहर कब निकलेंगे या कमरेमें कब चले जायेंगे या किस समय व्यावसायिक प्रवृत्तिहेतु बाजार जायेंगे, कुछ भी निश्चित नहीं था।

उन्हें अपनी पसंदीदा भोजन-सामग्री कुछ न थी; क्या खाया और कैसा था, कुछ भान नहीं रहता था। कभी तो ऐसा भी होता कि वे भोजन करनेके लिए कमरेसे आये और एक-आध रोटी खा कर ही पुन: कमरेमें चले जाते और द्वार बन्द कर लिया करते।

बहुधा दीर्घ समय ध्यानमें बैठनेके दौरान थकान लगनेपर वे लेट जाते थे परन्तु पैरोंकी पद्मासनमुद्राको यथावत् रखते हुए ही-इससे स्पष्ट है कि शारीरिक अनुकूलताके लिए वे ऐसे मुद्रा बदल लेते थे, परन्तु उपयोगकी अंतर्मुखताका प्रयास यथापूर्व बना रहता था।

सभी सम्यग्दृष्टियोंके अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ीका अभाव होनेसे उनके तद्निमित्तक निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि-इन तीन प्रकारकी निद्रा-प्रकृतियोंका भी अनुदय रहता है। श्री सोगानीजीका निद्रा-काल भी सहज ही अति अल्प हो गया था जो उनकी अंतर्दशा व उग्र पुरुषार्थको लक्षित करता है। उन्हींके वचनानुसार : `मुझे तो (सोते वक्त) पहले दो घण्टे नींद नहीं आती, फिर थोड़ी नींद आ जाए तो जगते ही ऐसा लगे कि क्या नींद आ गई थी !! फिर नींद उड जाती है; और यही (स्वरूप-घोलन) चलता रहता है।

श्री सोगानीजीने अपनी प्रवर्तती दशाके सम्बन्धमें जो उल्लेख किया है, वह प्रस्तुत है :

* `गुरुदेवश्रीके गुरुमंत्रका उपयोग करते रहनेसे अर्थात् अखण्ड ज्ञानस्वभावका आश्रय लेते रहनेसे, जैसे-जैसे पुण्यविकल्प सहज ही टूटते जाते हैं वैसे-वैसे आत्मामें सर्व विशुद्धि सहज ही विकसित होती जाती है।' (पत्रांक : २, अजमेर/२९-९-१९४९)

* `मैं मुझमें मेरे गुरुदेवको देखनेका सतत प्रयत्न करता रहता हूँ और जब-जब गाढ़ दर्शन होता है तब-तब अपूर्व-अपूर्व रसास्वादका लाभ लेता रहता हूँ, मानसिक विकल्परूपी भारसे हलका होता रहता हूँ, सहज ज्ञानघन स्वभावमें वृद्धि पाता रहता हूँ।'

(पत्रांक : ३, अजमेर/३-७-१९५०)

* `सहज परम निवृत्तिमय कारणपरमात्माका आश्रय पूज्य गुरुदेवने ऐसा बतला दिया है कि उसके अवलम्बनसे सहज परम अनाकुलता उत्पन्न होती रहती है।' (पत्रांक :५, कलकत्ता/२८-१०-१९५२)

* `जिस आत्मद्रव्यमें परिणाम मात्रका अभाव है उसमें जम गया हूँ । परिणमन सहज, जैसा होता है, होने दो, हे गुरुदेव ! आपके इन वचनोंने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी है।'

(पत्रांक : १९, कलकत्ता/२३-३-१९५६)

* `राग टूटना निश्चित है क्योंकि श्रद्धाने राग-अरागरहित स्वभावका

आश्रय लिया है व वीर्यकी क्षण-क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होनेसे ज्ञान-आनंदमयी अरागी परिणाम ही वृद्धिगत होंगे, यह नियम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।' (पत्रांक : १९, कलकत्ता/ २३-३-१९५६)

* `यहाँ तो पूज्य गुरुदेवने आत्मगढ़में वास कराकर प्रसाद चखाया है; अत: क्षणिक विकल्प भी सहज विस्मरण होते रहते हैं। कहता हूँ कि : हे विकल्पांश ! तेरे संग अनादिसे दु:ख अनुभव करता आया हूँ, अब तो पीछा छोड़। यदि कुछ काल रहना ही चाहता है तो सर्वस्व देनेवाले परम उपकारी श्री गुरुदेवकी भक्ति-सेवा-गुणानुवादमें ही उनके निकट ही वर्त।'

(पत्रांक : ४२, कलकत्ता/२१-८-१९६३)

D भावाभिव्यक्ति-क्षमता :

निर्विकल्पदशाके क्षणोंमें वर्तित विविध गुणोंके पर्याय भावोंका ज्यों का त्यों सूक्ष्म विश्लेषण प्राय: कहीं पढ़नेमें नहीं मिलता है। और वस्तुस्थिति भी यही है कि निर्विकल्पदशाको विकल्पगम्य करके उसे लेखबद्ध करना ज्ञानीकी विशिष्ट सामर्थ्यका ही द्योतक होता है। निम्नांकित उद्धृत पत्रांश श्री सोगानीजीकी उक्त क्षमताका प्रमाण है :

* `अहो ! बिना विकल्पका कोरा आनंद ही आनंद ! त्रिकाली गुब्बारेको पूर्ण फुलाये बिना (-विकसित किये बिना) अब एक क्षण भी चैन नहीं है। ध्यानस्थ अवस्थामें बैठा हुआ, अथाह ज्ञानसमुद्र व उसमें सहज केलि ! ऐसा अनुभव मानों `मैं ही मैं हूँ' आनंदकी घूँटे पिये जा रहा हूँ - अरे रे ! वृत्ति आनंदसे च्युत होने लगी। पर वाह रे पुरुषार्थ ! तूने साथ रही उग्रताका संकल्प किया, मानो अथाहकी थाह, सदैवके लिए एकबारमें ही पूरी ले लेगा। प्रदेश-प्रदेश व्यक्त कर देगा। सहज आनंदसे एक क्षण भी नहीं हटने देगा। पर अरे योग्यता ! तूने पूर्णताके संकल्पका साथ नहीं देकर अन्तमें च्युत करा ही तो दिया, तो फिर इसका दण्ड भी भुगतना पड़ेगा।'

(पत्रांक : १४, कलकत्ता/१-२-१९५४)

D अनूठी कथन-पद्धति :

यद्यपि त्रिकालवर्ती सर्व ज्ञानियोंकी तत्त्वप्ररुपणामें कहीं मतान्तर संभवित नहीं है, क्योंकि ज्ञानी पदार्थ-दर्शनपूर्वक सिद्धांत निरूपित करते हैं, अत: सभीमें तत्त्व अविरोधरूपसे अक्षुण्ण रहता है। सभी आचार्यदेवोंके वचनोंके आलोडनसे यह सुप्रतीत होता है कि सूत्र बदलते हैं पर कहीं सिद्धांत नहीं बदलते। तथापि सर्व ज्ञानियोंकी कथन-शैलीमें साम्य नहीं दिखता क्योंकि प्रत्येककी शैलीमें अपनी मौलिकता वर्तती है।

वास्तविक स्थिति तो ऐसी है कि `त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व, इस आश्रित परिणमी हुई आंशिक शुद्धवृत्ति व देवादिक प्रत्येकी आंशिक बाह्यवृत्ति-तीनों अंशोंका एक ही समय धर्मीको अनुभव होता है - ऐसे निर्बाध ज्ञानसे विशिष्ट आत्माको (-सम्यग्ज्ञानीको) प्रमाण कहते हैं। तथापि ज्ञानी धर्मात्मा विवक्षित विवक्षा हेतु कभी द्रव्यार्थिकनय व कभी पर्यायार्थिकनयकी मुख्यता-गौणताकी कथन-शैलीमें विषय प्रतिपादित करते हैं, तो भी सिद्धांत तो त्रिकाल अबाधित ही रहते हैं।

श्री सोगानीजीकी द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतावाली शैली रही है, जो अनादि कालसे पर्यायमूढतावश अति जटिल व विकट पर्यायबुद्धिरूपी नाग-पाशके कड़े बंधनमें जकड़े हुए जीवको छुड़ाने हेतु परम उपकारभूत है।

यद्यपि उनकी वाणी अति शांत व मृदु थी फिर भी श्रोताको ऐसा संवेग आ जाता कि मानो तीव्र पुरुषार्थसे अभी छलांग लगाकर आत्मा आत्मामें स्थिर हो जाए। इसी भाँति उनकी वाणीमें कोई ऐसा अद्‌भुत ज़ोर था कि जिसके स्पर्श होते ही पात्र जीवका अनादिसे सुषुप्त पड़ा आत्मा एकदमसे खड़ा हो जाए!

श्री सोगानीजीकी अन्य विशेषता यह भी थी कि `ज्ञानभण्डार आत्मामेंसे ज्ञान उघड़ता रहता है, शास्त्रसे नहीं' - इस सिद्धांत वाक्यके वाच्यसे, वे स्वानुभूत ज्ञानके प्रकाशमें ही सभी जिज्ञासाओं और प्रश्नोंका समाधान देते थे। इसी कारणसे प्राय: उनके पत्रों या प्रश्नोत्तर-चर्चामें,

शास्त्राधारके बजाय स्वानुभूत ज्ञानाधार मुख्यरूपसे प्रतिबिंबित होता है। और वस्तुस्थिति भी यही है कि आगमादि सभी प्रमाणोंमें अनुभवप्रमाणको ही सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट मान्य किया गया है। श्री सोगानीजीकी उक्त विशिष्टताका उदाहरण प्रस्तुत है :-

एकबार श्री सोगानीजीके साथ चल रही तत्त्व-चर्चामें एक मुमुक्षुने यह प्रश्न किया कि `पर्यायका क्षेत्र भिन्न है या अभिन्न ? इसका उत्तर उन्होंने यों दिया कि : `दृष्टिका विषयभूत पदार्थ, पर्यायसे-क्षेत्रसे भी भिन्न है।' - ऐसे उत्तरमें उपादेयभूत परमपारिणामिकभावकी उपादेयताकी ठोस ध्वनि सन्निहित है।

वहीं जब दूसरे मुमुक्षुने प्रश्न किया कि `अशुद्ध पर्यायका उत्पाद् कहाँसे हुआ और वह पर्याय व्यय होकर कहाँ गई ?' इसका उत्तर उन्होंने यथार्थ पदार्थ-दर्शनसे परिणमित सम्यग्ज्ञानकी भूमिकामें देखते हुए यों दिया कि `पदार्थकी तीनों कालकी पर्यायें पानीकी तरंगवत् अपने आपमेंसे उद्भव होती है और अपने आपमें विलीन होती है।'

D जिनवाणी-प्रेम :

श्री सोगानीजी अपने आत्म-अन्वेषणकी अवधिमें बहुधा धर्मग्रन्थोंके अध्ययनमें खोये रहते थे। तदर्थ व नई-नई किताबें खरीदते रहे, जिससे इनका संग्रह बड़ा होता गया। उनके अध्ययनकक्षमें सत्साहित्यका विपुल भण्डार था। यद्यपि तत्त्वज्ञानके आत्मसात् हो जानेके पश्चात् उनका पढ़नेके प्रतिका झुकाव क्षीण होता गया था; तथापि पू. गुरुदेवश्रीके प्रवचनोंके प्रकाशन आदि तो उनके पास नियमित आते रहते थे । इस प्रकार निरन्तर वृद्धिगत होते सत्साहित्यके लिए किरायेके छोटे-से घरमें जगह बनानेमें उनकी धर्म-पत्नीको बड़ी असुविधा होती थी। तथापि ऐसे संयोगोंमें वे अत्यंत भावुक होकर कहते `यही तो मेरी पूँजी है। बच्चोंके लिए यही तो विरासतमें छोड़कर जाऊँगा।' ...`आचार्योंके इन्हीं शास्त्रोंसे तो आनंदरस बूँद-बूँद कर टपकता

है।'

प्रत्यक्ष सत्श्रुतयोगमें उनके नेत्र पूज्य गुरुदेवश्रीके मुखमण्डल पर ही टिके रहते और वे श्रीगुरुके श्रीमुखसे निर्झरित तत्त्वामृतको स्थिर उपयोगसे इतनी एकाग्रतासे अवधारते रहते कि उनके अगल-बगलमें कौन बैठा हुआ है उसका उन्हें भान तक नहीं रहता था।

D प्रचण्ड पुरुषार्थका अवसर :

सन् १९६१ का वर्ष श्री सोगानीजीके लिए सर्वाधिक हादसों भरा रहा। इसी वर्ष उनके पिताश्रीका देहांत हो गया; और उसीको चंद महिनों बाद उनके चाचाश्री हेमचंद्रजी, जिनका उनकी शिक्षा-दीक्षामें विशेष रुचि व योग रहा था, का भी देहावसान हो गया; और इसी वर्षमें उन्हें क्रूर नियतिका एक और झटका लगा जिससे उनके शरीर छूटने जैसा योग हो गया था। लेकिन धर्मात्माओंके लिए तो ऐसे प्रसंग महोत्सव स्वरूप होते हैं।

श्री सोगानीजी एक दिन शामको घर लौट रहे थे। उनके हाथमें एक बैग था। उसमें रुपये होनेके भ्रमसे कुछ असामाजिक तत्त्वोंने उनके पेटमें ९ इंच लम्बा छुरा भोंक दिया। वे वहीं गिर पड़े। अत्यधिक रक्तस्त्रावसे उनकी स्थिति गम्भीर और विशेष चिंताजनक हो गयी। अस्पतालमें डॉक्टरोंको आसानीसे उनकी नब्ज (Pulse) हाथ नहीं आ रही थी। तत्काल शल्यक्रिया करनी पड़ी। यद्यपि शल्यक्रिया सफल रही तथापि कुशल डॉक्टरोंकी कई सप्ताहोंकी यथोचित सार-संभालसे उन्हें स्वास्थ्य लाभ संभव हो सका। परन्तु उनके परिणामोंमें किसी प्रकारकी विह्वलता या आकुलताकी गंध तक नहीं दिखलाई देती थी। उनके परिणाम पूर्ववत् ही अत्यन्त सहज, स्वस्थ व शांत रहे। मानो उन्हें सर्वांग समाधान वर्तता हो और आत्मप्रत्ययी सहज पुरुषार्थ ऐसे विकट क्षणोंमें अत्यन्त वर्धमान हुआ हो परिणामत: पूर्व निबंधित शेष कर्मराशिने अपनी पराजय अंगीकार कर, उस बे-जोड़ पुरुषार्थीके लिए शीघ्र मोक्षगमनका मार्ग प्रशस्त कर दिया हो।

उक्त घटनाने श्री सोगानीजीको विशेषरूपसे आत्मकेन्द्री बना दिया। अब तो वे यथाशीघ्र दायित्व बंधनसे विमुक्त होकर पूर्णत: मोक्षसाधनामें लीन हो जाना चाहते थे। उनकी ऐसी पूर्व भावित भावना अब विशेष बलवती हो गई। जिनधर्मके सत्स्वरुपके सम्बन्धमें उनका अनुभवज्ञान गहनसे गहनतर होता गया। सहजानंदसे बाहर झाँकना अब उनके लिए अग्निदाह-सा दु:खद हो गया। यात्राके अंतिम पड़ाव पर आत्मशांतिकी छाया उनके आसपास घनिभूत होने लगी।

प्रतिक्षण वर्धमान होती उनकी आत्मपरिणतिको अब अनात्मभाव अत्यन्त बोझरूप लगते। वे भौतिक संसारकी उस सीमा तक पहुँच चुके थे जहाँसे उसपार छलांग लगाना संभव हो जाता है। अंतर चेतनाके सारे कक्ष यथोचित खुल चुके थे। मोक्षके महा द्वार पर दस्तक पड़ रही थी। देश-कालकी सीमाएँ टूटने लगी और वे पल, प्रति पल निर्वाणपथकी ओर अग्रसर होते रहे। किन्तु यह सब उनके भीतर घट रहा था। बाहरकी दिनचर्यामें कोई व्यतिक्रम नहीं था। पर्यायका कार्य पर्याय द्वारा सम्पादित हो रहा था।

D मुक्तिदाताके अन्तिम दर्शन :

श्री सोगानीजी मानों अपने नश्वर शरीरसे बंधनमुक्ति पूर्व अपने मुक्ति नियंता, मुक्तिनाथ, निष्कारण करुणा सागरके प्रति साक्षात् श्रद्धा-सुमन समर्पित करने और उनकी पवित्र चरणरजको अन्तिमबार अपने मस्तकपर चढ़ानेके अभीष्टवश, मई १९६४ में `दादर' में समायोजित पू. गुरुदेवश्रीकी मंगलकारी ७५ वीं जन्म जयंतीके प्रसंगपर सपरिवार बम्बई पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने मुक्तिदाताके अन्तिम दर्शन किए और श्रीगुरुके परम उपकारके प्रति कोटि-कोटि आभार स्वीकारते हुये, भावाँजलि समर्पित की। और वहाँसे लौटनेमें वे अपनी धर्मपत्नीको अजमेर छोड़ते हुए, छ जून १९६४ को कलकत्ता आ गये। उस दिन वे अत्यन्त शांत और प्रकृतिस्थ दिखाई दिये, स्वस्थ और प्रसन्न।

D चिर विदाई :

दूसरे दिन ७ जून १९६४ को श्री सोगानीजीको वातावरणमें अस्वाभाविक गर्मी और घुटनका अनुभव हुआ। उन्होंने अपना पलंग सरका कर पंखेके नीचे करवा लिया। उनके सीनेमें हलका-हलका दर्द होता रहा परन्तु उन्होंने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सारे दिनका उपवास। `श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ जो पिछले वर्षोंमें उनके लिए धार्मिक स्वाध्यायका आधारभूत रहा था-का परायण। आत्मघोलन व शांतमुद्रा। संध्याको ५ बजे वेदनाका कुछ अधिक भान हुआ; फिर भी स्नान किया, मानो संसारसे प्रस्थानपूर्व जड़ शरीरकी शुद्धि कर लेनेका उपक्रम हो। संयोगवश उस समय घरमें केवल उनकी कनिष्ठ पुत्री कुमुदलता ही थी। पुण्यात्माको शरीर तो एक व्यर्थ बोझा-सा ही लगता था। कालका मानों सदैव स्वागत था। वस्तुत: पुण्यात्माके लिए तो मृत्यु एक बड़ा भारी महोत्सव-सा होता है। शांत शरीर बिस्तर पर पड़ा रहा और वे अपने स्वमें लीन हो चुके थे। परम पुण्यात्माको ऐसा योग बना कि अकस्मात् हृदयगतिने रुद्ध होकर आत्मार्थीके लिए, शरीरके इस व्यर्थ बोझसे मुक्त कर, वास्तविक मार्ग प्रशस्त कर दिया। डॉक्टर आया, पर उसके लिए करने जैसा कुछ नहीं रहा।

बिजलीकी तरह यह खबर चारों ओर फैल गई। किसीने कल्पना भी नहीं की थी कि इस प्रकार हटात दीप निर्वाण हो जाएगा। श्रद्धापूर्वक उनके पार्थिव शरीरको चन्दन-कपूर युक्त चिताकी भेट कर दिया गया । पीछे छूट गया पुण्यात्माका यश: शरीर।

D श्रीगुरुके उद्‌गार :

पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री कहानजी स्वामीके पास जब भी सोगानीजीके आकस्मिक निधनकी खबर पहुँची तो उन्होंने वैराग्यपूर्ण सहज भावसे अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा : `अरे ! आत्मार्थीने मनुष्य जन्म सफल कर लिया है। स्वर्गमें गये हैं और निकट भवी हैं।'

अनेक आत्मार्थियोंके जिज्ञासा भरे प्रश्न पत्र श्री सोगानीजीके

पास आते थे; तादृश सोनगढ़ तथा बम्बईके प्रवासमें अनेक मुमुक्षुओंके साथ तत्त्वचर्चा होती थी; उन सबका वे यथोचित समाधान देते। इनमेंसे विशेष कर सन् १९६२-१९६३में हुई तत्त्वचर्चाको अनेक मुमुक्षुओंने लिख लिया था। सद्भाग्यसे वह (उक्त) सामग्री उन मुमुक्षुओंके पास सुरक्षित थी; जिसे पुस्तकाकाररूपमें प्रकाशित करने हेतु पू. गुरुदेवश्रीकी स्वीकृति मिल जाने पर, उस सामग्रीको संकलित-संपादित करके `द्रव्यदृष्टि प्रकाश' शीर्षकसे ग्रंथारूढ़ किया गया। जब इस ग्रंथकी छपाईका कार्य पूरा हो गया तो उसकी प्रति पू. गुरुदेवश्रीको देते हुए इस ग्रंथ हेतु आशीर्वाद स्वरूप उनके स्वहस्ताक्षरोंकी टिप्पणीकी याचना की तो उन्होंने ग्रंथके सतही अवलोकनपरसे लिखा कि : `भाई न्यालचंद सोगानी आत्माना संस्कार सारा लईने देह छुट्यो छे।'

परंतु इस ग्रंथके तलस्पर्शी अध्ययनसे श्री सोगानीजीके `अक्षरदेह' परसे पू. गुरुदेवश्रीको स्वर्गस्थ आत्माकी यथार्थ, उच्च, शुद्ध अंतर्दशाकी सुप्रतीति हो गई। और तदुपरांत तो वे अपने प्रवचनोंमें वारंवार श्री सोगानीजीकी आध्यात्मिक उपलब्धियों, उनके असाधारण पुरुषार्थ व मार्मिक शैलीकी मुक्तकंठसे सराहना करते रहे । कभी कभी तो वे भावविभोर होकर यहाँ तक कहते कि :

`श्री सोगानी वैमानिक देवमें गये हैं, वहाँसे निकलकर मनुष्यभव प्राप्त कर झपट करेंगे; और वे मेरे पहले मुक्तिमें जायेंगे । और जब मैं तीर्थंकरभवमें (-चौथे भवमें) मुनिदीक्षाके समय सर्व सिद्धोंको नमस्कार करुँगा तब मेरा नमस्कार उन्हें भी प्राप्त होगा।'

धन्य धन्य हैं ऐसे गुरु !! धन्य हैं ऐसे शिष्य !!

* वस्तुत: श्री निहालचंद्रजी सोगानीकी जीवनगाथा साधनासे सिद्धि तक छलांग लगानेका वृत्त है। कर्मयोग और अध्यात्मयोगकी संभवित साधनाका यह एक अनुपम उदाहरण है। जीवनयात्रा यदि बाह्य जगत्प्रति हो तो उसको समझना और रेखांकित करना आसान है किन्तु वे

तो अंतर्जगत्के यात्री थे। उनकी उपलब्धियोंका यथार्थ मूल्यांकन, उस दशाको संप्राप्त अथवा उस दशासंप्राप्तिमें संलग्न जीव ही कर सकता है, अन्य नहीं।

`द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' ग्रंथमें संकलित अनेकों गंभीर आध्यात्मिक पत्र व सैकड़ों प्रश्नोत्तर, जिनधर्मके संबंधमें श्री सोगानीजीके तलस्पर्शी व अनुभवमयी ज्ञानके प्रमाण हैं। उनके श्रीमुखसे व समर्थ लेखनीसे सत् दर्शन और मोक्षमार्गके संबंधमें प्रकट होनेवाली सचोट वाणी ही उनकी थाती है। पुस्तकके रूपमें प्रकाशित उनकी प्रज्ञाका यह प्रकाश-स्तम्भ भावी पीढ़ीका मार्गदर्शन करता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

सत्पुरुषोंका प्रत्यक्ष योग जयवंत वर्तो !

- त्रिकाल जयवंत वर्तो !

संकलन व संपादन

- पूज्य भाईश्री शशीभाई म. शेठ

पूज्य सोगानीजीके श्रीमुखसे प्रवाहित पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रति हृदयोद्‌गार

महाराजश्री, चिन्मय, भव्य दिव्यमूर्ति, गरजती हुई दिव्यमूर्ति, परम कृपालु, परम पूज्य, परम अद्‌भुत, जीवन उद्धारक, जन्म-मरणरूपी रोगसे रहित करनेवाले योगीराज, अनादि अनंत आयुके धारक चैतन्य, परम कृपालु उपकारी, सर्वश्रेष्ठ नेता (मोक्ष मंडलीके), मुक्तिदूत, अलौकिक सत्पुरुष, पूज्य परम उपकारी, हे भगवान, परम पूज्य महान योगी, आत्मरससे ओतप्रोत वक्ता, हे प्रभो, साक्षात् चैतन्यमूर्ति, ज्ञानानंदी गढ़, वीतरागप्रधानी, ज्ञान आनंदकी खान, अपूर्व सत्पुरुष, अलौकिक पूज्य, सर्वस्वके देनेवाले परम उपकारी, परम निर्भय सिंहस्वरूप, तीर्थंकरसे भी अधिक सत्पुरुष, मुक्तिनाथ, परम पिताश्री।

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड
आध्यात्मिक पत्र : पृ. १ से ८२

द्वितीय खण्ड
पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन : पृ. ८३ से ११२

तृतीय खण्ड
तत्त्वचर्चा : पृ. ११३ से २६३

द्रव्यदृष्टि प्रकाश

दाताओं की नामावली

निधि न्हाटा-बेंगलोर, किटी बंसाली-मुंबई, मीनी जैन-लन्दन, सिल्की सोगानी-मुंबई - पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी की पोतीओं की ओर इस पुस्तक प्रकाशन का संपूर्ण खर्च प्राप्त हुआ है।

विषय सूचि

१. दृष्टिका परिणमन और दृष्टि का विषय :-

२, ७, ८, ९, ११, १२, १३, १९, २३, २६, २९, ३०, ३२, ४०, ५०, ५३, ५४, ७१, ७५ ७६, ७८, ९५, ११५, १५९, १६१, १८०, १९१, १९७, १९९, २०३, २०६, २०७, २२८, २३०, २३७, २४०, २४७, २५१, २५५, २६६, २६९, २७७, २८१, २८२, २८६, २८९, २९४, २९५, २९६, ३०६, ३१३, ३६०, ३६८, ३७०, ३७३, ३७५, ४०६, ४०७, ४२९, ४३७, ४४२, ४६७, ४७०, ४८०, ४८१, ५११, ५१२, ५२२, ५४१, ५५२, ५६०, ५६१, ५६२, ५६६, ५६९, ५७८, ५८३, ५८५, ५८९, ५९१, ५९४, ६०६, ६०८, ६१७, ६२५, ६२७, ६२९, ६३७.

२. आत्मा किस तरह प्राप्त होवे ?

२५, ७०, ९०, २५०, ५०६, ५६८, ५८१.

३. मार्गदर्शन

६८, ७२, ८१, ८४, ८६, १०२, १०३, १०४, १२५, १२७, १३३, १३८, १६०, १६३, १७७, १७८, १८५, २०१, २१०, २१८, २२१, २२७, २२९, २३२, २३६, २४१, २४८, २५४, २५६, २५७, २६५, २६७, २६८, २७२, २९२, ३०२, ३२७, ३३०, ३५७, ३५८, ३७७, ३८६, ३९४, ४१३, ४१६, ४२६, ४२८, ४३०, ४३१, ४३८, ४३९, ४५४, ४५८, ४६४, ४६६, ४७३, ४८९, ४९१, ४९५, ५०२, ५०३, ५१७, ५२१, ५२६, ५३०, ५३२, ५३३, ५३५, ५५१, ५५९, ५६४, ५७१, ५८०, ५९७, ५९९, ६०३.

४. प्रयोजन (पर्याय अपेक्षा से कर्तव्य)

१४, १९२, २७३, २८३, ३०९, ३१८, ३४०, ३५१, ५२९, ५५८, ५९२, ५९५.

५. पात्रता का लक्षण

२०, ११३, १८३, ४२१, ४२७, ४७६.

६. मुमुक्षुनी भूमिका

२४, ४९, ६४, ९२, ११८, ३२८, ५०१.

७. आत्मा की रुचि

८५, ८७, ११७, २३९, ३११, ३३१, ४१०, ४१८, ४४७, ४५६, ४९७, ४९८.

८. पुरुषार्थ का स्वरूप

२२, ३०८, ३२४, ३६२, ३८०, ५०५, ५४९, ५८२, ६३८.

९. ध्याय ध्येय

९३, ३२९, ५३४, ६२१.

१०. भक्ति

३९२, ४४६, ४५५, ४८३, ४९९.

११. आत्मिक सुख

२१, ३३, ९१, १८६, २७४, ३०५, ३४४, ३७१, ३७९, ४१७, ४४५, ४५३, ६०४.

१२. सम्यक्ज्ञान की प्रवृत्ति

३५, ५५, ५६, १६६, १८८, १९३, १९८, २०५, २११, २१३, २५२, २५९, २८४, ३०४, ३३६, ३३८, ३४१, ३४२, ३५५, ३९१, ४४९, ४५०, ४६२, ४६८, ५७०, ६०१, ६१४, ६१९, ६२४.

१३. प्रमाण का विषय

३, ४, ५, ४३, १८७, ५२०, ५२४, ६०७.

१४. निश्चय - व्यवहार

१७, २८, १०७, १४९, २३३, ४०४, ४६३, ५१८, ५९८, ६१८, ६२०, ६३६.

१५. ज्ञाता दृष्टापना (भेदज्ञान)

३४, ३६, १११, १५२, १८४, ३३२, ४५९, ५७९, ५९३.

१६. ज्ञानी - अज्ञानी का भेद

५७, २०४, ३०७, ४२३, ४२४, ५१९.

१७. बहिर्मुख परिणनम में दुःख

५१, १२२, १३४, १४१, १४२, १९५, २२०, २९७, ३१२, ३३७, ३४६, ३४७, ३७८, ३८१, ३९३, ३९९, ४१२, ४३६ ४५२, ४९२.

१८. मिथ्या अभिप्राय का स्वरूप

५८, ६९, ७७, ९७, १०५, ११०, ११६, १३१, १५०, २७६, २७९, २९९, ३२६, ४०५, ४७९, ४९३, ५०७, ५२७, ५४५, ५४८, ५५७, ५६५, ६०२, ६२३.

१९. परलक्षी क्षयोपशमज्ञान - अटकने का स्थान

१८९, ३०३, ४४८, ४८८, ५४२, ५७६.

२०. द्रव्यलिंग की भूल

६०, ८३, १२१, २६३, ६२६, ६३०.

२१. परसन्मुखता का निषेध

१५, १६, ४६, ४७, ४८, ६१, ६२, १०१, १०६, १०९, १२४, १३०, १४०, १४७, १४८, १५३, १५४, १५५, १५६, १६२, १६४, १६५, १८१, २०२, २१४, २२२, २२४, २२५, २४३, २४६, २५८, २६२, २८५, २९१, ३१६, ३१९, ३४८, ३४९, ३५९, ३६६, ३८८, ३८९, ३९७, ४०३, ४०८, ४११, ४४१, ४६५, ४८२, ४८६, ५२३, ५२५, ५३८, ५३९, ५५६, ५६३, ५७४, ६२२.

२२. पर्याय से निरपेक्षता

७४, ८०, ८८, ९६, १५७, १७९, ३२५, ३३५, ३६५, ३६७, ३७२, ४०२, ४०९, ४२५, ४४३, ४७७, ४७८, ४९४, ४९६, ५१६, ५५३, ५८६, ५८८, ५९६, ६३९.

२३. पर्याय का कर्तापने का निषेध

६५, १७१, १७५, २१९, २२३, २३४, २४२, २४४, २९८, ३२२, ३३३, ३९५, ४१५, ४१९, ४३२, ४३३, ४४४, ५१४, ५२८, ५७५, ५८४, ५८७, ५९०, ६०५, ६०९, ६११, ६४२.

२४. सिद्धांतिक निरूपण

१, ६, १८, २७, ३१, ३७, ३८, ३९, ४१, ४२, ४४, ४५, ५२, ६३, ७३, ७९, ८२, ८९, ९४, ९८, ९९, १००, १०८, ११४, १२०, १२६, १२८, १२९, १४३, १४४, १४५, १५१, १५८, १६७, १६८, १६९, १७२, १७४, १७६, १८२, १९०, १९४, १९६, २००, २०८, २०९, २१२, २१५, २१६, २१७, २२६, २३१, २३५, २३८, २४५, २४९, २६१, २६४, २७५, २७८, २८०, २८७, २८८, २९०, २९३, ३०१, ३१०, ३१५, ३२०, ३२१, ३२३, ३३९, ३४५, ३५०, ३५२, ३५३, ३६१, ३६३, ३६४, ३७४, ३७६, ३८२, ३८७, ३९०, ३९६, ३९८, ४००, ४१४, ४२०, ४२२, ४३४, ४४०, ४५१, ४५७, ४६०, ४६९, ४७१, ४७२, ५००, ५०४, ५०८, ५१०, ५१५, ५३६, ५३७, ५४०, ५४३, ५४६, ५४७, ५५०, ५५४, ५५५, ५६७, ५७२, ५७७, ६००, ६१०, ६१२, ६१५, ६१६, ६३३.

२५. मृत्यु पहेले तैयार रहो

३००, ३१७, ४६१, ४७४, ४७५, ६१३.

२६. गुरु महिमा

६७, १३२, १३९, १७०, २५३, २७१, ३१४, ३६९, ३८३, ४०१, ५०९, ५४४, ५७३, ६३१.

२७. अंगत

१०, ५९, ६६, ११२, ११९, १२३, १३५, १३६, १३७, १४६, १७३, २६०, २७०, ३३४, ३४३, ३५४, ३५६, ३८४, ३८५, ४३५, ४८४, ४८५, ४८७, ४९०, ४९७-अ, ५१३, ५३१, ६२८, ६३२, ६३४, ६३५, ६४०, ६४१, ६४३, ६४४, ६४५.

समर्पण

पूज्य श्री सद्गुरुदेव के परम योग से एवं उनकी अपूर्व सत् अमृतवाणी से मुझ पामर पर अपार उपकार हुआ है। वह होते ही निज सुप्त चेतना तत्क्षण जागृत हो उठी और उन्हीं के प्रताप से इस भरतभूमि में अद्भुत और अलौलिक धर्मप्रभावना हो रही है। इनके मुखारविन्द से जिनधर्म व जिनवाणी का विशाल प्रवाह अखण्ड-अटूट-धारावाही बह रहा है, इस आध्यात्मिक स्त्रोत से निकली ज्ञानगंगा में स्नान कर अनेक जीव शुचि हो रहे हैं। अहो ! अपूर्व आध्यात्मिक सहजानंदवृत्तिधारक, महान् अनुभवी, प्रख- धर्मउपदेशक, करुणासिंधु परम पूज्य परमोपकारी सद्गुरुदेव श्री कहानजी स्वामी के करयुगल में अत्यंत भक्तिपूर्वक विनम्रभाव से यह `द्रव्यदृष्टि प्रकाश' समर्पण करके अत्यधिक आनंद अनुभवता हूँ।

- रमेशचन्द्र सोगानी

`मैं ज्ञानमात्र हूँ'

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जयते.

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्यां,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्यां.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्यां,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

ॐ

श्री परमात्मने नमः

द्रव्यदृष्टि प्रकाश

(प्रथम खण्ड)

अध्यात्मिक पत्र

परम अद्‌भुत, जीवन उध्धारक, जन्म-मरणरूपी रोग से रहित करनेवाले, योगिराज श्री कहानगुरुदेव की तीक्ष्ण

द्रव्यदृष्टि के अजोड प्रकाशक

श्री निहालचंद्र सोगानीजी के द्वारा

साधर्मियों के प्रति

लिखे गये

पत्र

ॐ

१

अजमेर

२२-३-१९४९

आत्मार्थी....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

कार्ड आपका मिला, प्रतिष्ठा व विहार आदि के समाचार ज्ञात हुए।

जब से आपका कार्ड आया है तब से रोज कुछ जवाब लिखना है, ऐसा विकल्प होता है, परंतु लेखनी नहीं बढ़ती, कारण क्या लिखूँ ऐसा कोई सहज विषय स्मरण नहीं होता ....

`मैं त्रिकाली सहज ज्ञानस्वभावी ध्रुव पदार्थ हूँ व प्रतिक्षण ज्ञानरूप परिणमन मेरा सहज स्वभाव है; जड़ आश्रित परिणाम जड़ के हैं।' - पूज्य गुरुदेव के इस सिद्धांत की घूँटी ने क्षणिक परिणाम की ओर के वलण के रस को फीका कर दिया है व सहज स्व के सिवाय कोई कार्य में रस नहीं आता है, अतः जवाब आदि नहीं पहुँचने में व विलंब आदि के होनेमें मेरी ओर का ख़याल न करना।

उत्कृष्ट शुभ-दृष्टि की अपेक्षा आपको महाराजश्री के व्याख्यानों की अनुकूलता है, परंतु यहाँ तो अशुभ प्रतिकूलताएँ बहुत हैं। फिर भी `मुझे विश्व में कोई भी पदार्थ अनुकूल है ना प्रतिकूल है' - इस सिद्धांत को लेकर मैं प्रतिकूलताओं को भी अनुकूल ही समझता हूँ। कारण ऐसी अवस्था में परिणाम केवल स्वसामर्थ्य का ही आश्रय लेते रहें, यही एक प्रयोजन रहता है व पर तरफ़ अधिक नहीं अटक पाते।`.....'

आत्मस्वास्थ्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे, यही अभिलाषा है;

जो कि (यद्यपि) आत्मा तो अभी ही पूर्ण स्वस्थ्य और अभिलाषारहित है, परंतु अपूर्ण परिणमन की अपेक्षा ऐसा लिखा है।

आपका

निहालचंद्र

❁ पदार्थका सहज स्वभाव अविकृत होता है।

❁ जिनवर और जीवमें अंतर नहीं।

❁ ज्ञान और राग एकमेक नहीं है।

❁ मैं तो चिन्मय अखण्ड़ ज्योतिस्वरूप हूँ, पर्याय रूप नहीं।

❁ पर्याय द्रव्यका आश्रय करती है, लक्ष्य करती है इससे पर्याय शुद्ध होती है।

❁ आनंद सहितके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

❁ चैतन्य आत्मासे प्रेम करना, निर्विकल्प शांति द्वारा आत्माको देखना, वह धर्म है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

२

अजमेर

२९-९-१९४९

आत्मार्थी....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

अभी अभी आपका कार्ड मिला।.... मैं परिस्थितिवश दिवाली के पहेले वहाँ नहीं आ सकता। दीवाली के दूसरे या तीसरे दिवस वहाँ आऊँगा।...

वहाँ `सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' पर व्याख्यान होता है; मैंने पहले भी ऐसे समय पर वहाँ उपस्थित होना सोचा था; परंतु अभी भी नहीं आ सकता, यह पुण्य की कमी है। साथ ही गुरुदेवश्री के गुरुमंत्र का उपयोग करते रहने से अर्थात् अखण्ड ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेते रहने से, जैसे-जैसे पुण्यविकल्प सहज ही टूटते जाते हैं वैसे-वैसे आत्मा में सर्व विशुद्धि सहज ही विकसित होती जाती है, अतः परम संतोष भी है।

कलकत्ता व हिसार आदि से पंडितगण व मुमुक्षुजन वहाँ आ रहे हैं, यह उनके पुण्य का उदय समझो; और यदि उन्होंने वहाँ यथार्थ दृष्टि करली तो उनके परम पुण्य का उदय समझो। निमित्त-नैमित्तिक ज्ञान का संबंध बताता है कि जहाँ तीर्थंकर की तैयारी होती है वहाँ गणधर से लेकर केवलियों तक की भी कमी नहीं रहती। समुदाय का समुदाय ही केवलज्ञान की तैयारी के सन्मुख बढ़ता ही जायेगा, ऐसी दृढ़ प्रतीति होती जाती है।

अजमेर का वातावरण अभी शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टियों से भरा हुआ है। कभी-कभी गुरुदेव की ठोस, निःशंक, निःस्वार्थ व स्वआश्रित वाणी का असर फैलता है; फिर पूर्व आग्रहों के कारण दब जाता है; अंत में पात्र होंगे वे ठिकाने आजायेंगे।

प्रतिमाजी परसे कीकी (आँख) का चिह्न निकाल लिया गया यह बहुत ही अच्छा हुआ, ऊपरी-बाह्य दृष्टिवालों के यह एक बाधक कारण होता था।

पूज्य गुरुदेव को अत्यंत भक्तिपूर्वक प्रणाम व और मुमुक्षु भाईयों को यथायोग्य।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र सोगानी

❁ भगवान अंतरमें बिराजते हैं उन्हें बाहर विकल्पोंमें और रागकी क्रियामें अज्ञानी खोजते हैं।

❁ सम्पूर्ण सिद्धांतका सार का सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुख होना वह है।

❁ आत्म वस्तु जो ज्ञानानंद सहजानंद प्रभु है उसका जिसे ज्ञान हुआ उसे आत्मा भासित होती है।

❁ ध्रुववस्तु स्वयं ध्रुववस्तुको नहीं जानती है परंतु पर्यायमें ध्रुववस्तु जाननेमें आती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

३

अजमेर

३-७-१९५०

आत्मार्थी....प्रत्ये निहालचंद्रका धर्मस्नेह।

आपका कार्ड प्राप्त हुआ। आरंभमें ही सर्वत्र उपादेय, यथोचित विशेषणों द्वारा स्तुत्य गाढ आत्मसंवेदनरूपी आपका नमस्कार पढकर व आत्मस्वास्थ्यमें निरंतर वृद्धिकी भावना देखकर चित्त अत्यंत प्रसन्न हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्रीका मुमुक्षुगण सहित राजकोटके विहार कार्यका सुंदर धर्मप्रभावनापूर्वक पूर्ण होना जान कर इस बातकी प्रतीति होती है मानो नायक सहित सर्व संघका निश्चय प्रभावनारूपी कार्य भी शीघ्र व निर्विघ्न रीतिसे पूर्ण होनेवाला है। आपश्रीका निश्चित स्थान, सोनगढका आगमन इस बातका द्योतक होता है मानो हम सबकी परिणतिका त्रिलोकरूपी राजकोटका विहाररूपी भ्रमण समाप्त होकर निश्चित अविनाशी स्व स्थान - अमृतमयी चैतन्यलोक आत्मगढमें आगमन हो रहा है, जहाँ कि सहज आनंदसे तरंगित सहज आत्मरमणरूपी विहार सादि अनंतकाल तक स्वाभाविक ही होता रहेगा।

पूर्व उदयके योगसे मैं आप जैसे पुण्यशालियोंकी तरह श्रीगुरुदेवके समीप रहकर उनके संगका, उनके वचनामृतका निरंतरलाभ नहीं ले सक रहा हूँ, इसका मुझे महान्-महान् खेद होता है। साथ ही उनके बोध द्वारा बोधित मुझे यह संतोष भी होता है कि निश्चयसे सत्गुरुदेव मुझसे दूर नहीं हैं - जहाँ मैं हूँ वहाँ ही मेरे गुरु हैं, अतः मैं मुझमें मेरे गुरुदेवको देखनेका सतत प्रयत्न करता रहता हूँ और जब-जब गाढ दर्शन होता है तब-तब अपूर्व-अपूर्व रसास्वादका लाभ लेता रहता हूँ, मानसिक

विकल्परूपी भारसे हलका होता रहता हूँ, सहज ज्ञानघन स्वभावमें वृद्धि पाता रहता हूँ। सोनगढकी चिन्मय, भव्य, दिव्यमूर्तिको अधिक समीप होकर गहन दृष्टिसे देखता रहता हूँ।

आशा करता हूँ कि जुलाई माहके अंत तक लगभग एक माहके लिये वहाँ रहनेको आ सकूँगा। आशा है वहाँ सर्व कुशल होंगे। आपका वहाँका पत्र कभी-कभी आनेसे एक प्रकारका संबंध वहाँका बने रहनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त है, यह मेरे पुण्यका योग है, ऐसा मानता हूँ। यहाँ योग्य कार्य लिखें।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र सोगानी

- ❁ कारणपरमात्मा ही यथार्थतया मोक्षमार्गका हेतु है।
- ❁ ज्ञानीको ध्रुवस्वभावके अवलम्बनका बल सदैव वर्तता होनेसे उसका ज्ञान सम्यक् प्रमाण है।
- ❁ साधकजीवको त्रिकाल चैतन्यमूर्ति ध्रुवका - द्रव्यस्वभावका ही अवलम्बन होता है।
- ❁ ध्यानका विषय तो अखण्ड़ चिदानन्दस्वरूप त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

४

कलकत्ता
२१-६-१९५२

आत्मार्थी...प्रत्ये निहालचंद्रका धर्मस्नेह !

आपका कार्ड अजमेरसे लौटकर यहाँ आया, कारण मैं अधिकतर आजकल यहाँ ही रहता हूँ। योग कुछ ऐसा ही है कि आर्थिक संबंधकी अपेक्षा प्रत्यक्ष तौर पर मेरा धार्मिक संग इस समय दूर-सा हो रहा है और मैं बहुत समयसे सोनगढ नहीं आ सक रहा हूँ। यह कहना व्यर्थ है कि अंतरंगमें, यहाँ होते हुए भी मुझे वहाँ की स्मृतियाँ, ऐसा कोई दिन न होगा कि नहीं आती रहती होवे। पूज्य गुरुदेवकी स्मृति इस समय भी आ रही है व आँखोंमें गर्म आँसू आ रहे हैं कि उनके संग रहना नहीं हो रहा है। उनका असंगरुचिका उपदेश (अथवा स्वसंगका) कानोंमें गूँजता रहता है और उसकी रमणतासे ही यहाँ की उपाधियाँ ढीली-सी रहती है। उस दिनकी प्रतीक्षामें हूँ कि कब उस गरजती हुई दिव्यमूर्तिके चरणोंमें शीघ्र अपने आपको पाऊँ।...

आशा करता हूँ कि आपकी परिणति स्वस्थ्य होगी। पूज्य गुरुदेवके चरणोंमें मेरा सादर भक्तिपूर्वक नमस्कार और सब भाइयोंसे धर्मस्नेह।...

धर्मस्नेही
निहालचंद्र सोगानी

५

कलकता
२८-१०-१९५२

आत्मार्थी... प्रत्ये निहालचन्द्रका धर्मस्नेह।

...कुछ ऐसा योग है कि अभी तक मेरा उधर आना होता ही नहीं है। सहज परम निवृत्तिमय कारणपरमात्माका आश्रय पूज्य गुरुदेवने ऐसा बतला दिया है कि उसके अवलम्बनसे सहज परम अनाकुलता उत्पन्न होती रहती है; कहीं आने-जाने आदिके समस्त विकल्पों रहित अनादि - अनन्त स्वमें ही स्थिर हूँ तो कहाँ आना व कहाँ जाना; फिर भी वहाँ न आनेका खेद वर्तता रहता है।

धर्मस्नेही
निहालचन्द्र

❁ परकी मिठाश तुझे चैतन्यकी मिठाश (लेने)में विघ्न करेगी, इसलिये भाई ! विवेकपूर्वक परकी मिठास छोड़।

- पूज्य गुरुदेवश्री

६

अजमेर
१८-४-१९५३

आत्मार्थी....धर्मस्नेह।

मैं यहाँ कल आ पहूँचा था।....स्वकुटुंबियों से भी अधिक वात्सल्ययुक्त आपका व्यवहार प्राप्त होनेसे इस समय की मेरी सोनगढ़ यात्रा अपूर्व रही। महोत्सव के आरंभ से अंत तक के वहाँ के सुखदायी दृश्य अब तक स्मृति पर दौड़ते रहते हैं।

गुरुदेव के निकट रहने से पर्यायस्वभाव उग्रतर रहा करता था व सोगनढ़ स्थान व वहाँ के मुमुक्षुओं की उपेक्षा-सी हो जाया करती थी, परंतु अब तो वहाँ की धूल के लिये भी तड़पना पड़ता है। गुरुदेव के दृष्टांत अनुसार भभकती भट्ठी में गिरने का-सा प्रत्यक्ष अनुभव यहाँ एक दिन में ही मालूम होने लग गया है। धन्य हैं वहाँ के सर्व मुमुक्षु, जिनको सत्पुरुष का निरंतर संयोग प्राप्त है।
..

सब सहजानंद की रमणता में प्रचुर मस्त रहें, यह ही आकांक्षा है।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❁ पदार्थ का सहज स्वभाव अविकृत होता है।
-पूज्य गुरुदेवश्री

७

कलकत्ता
१८-५-१९५३

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

तीव्र धर्मानुरागी....

धर्मस्नेही का पत्र दूर से देखते ही चित्त प्रसन्न हो उठता है। आपका कार्ड पढ़ा।

धन्य हैं गुरुदेव, उनका जन्मदिवस व जयंती का प्रत्यक्ष लाभ लेनेवाला पुण्यशालियों का समूह !

जिनके दर्शन मात्र से तीव्र मुमुक्षु कृतकृत्य हो जाते हैं, ऐसे गुरुदेव के जन्मदिवस बारंबार उजवाते रहें, यह ही भावना है।

एक युग से आपकी निरंतर पूज्य परमोपकारी गुरुदेव के प्रति भक्ति व तत्त्व की तीव्र जिज्ञासा भरा हृदय, हृदय में पूर्ण अंकित है। प्रारब्ध ने अब के वहाँ के सहवास का ऐसा संयोग कराया कि वहाँ की अनुपस्थिति में, मनोयोग, वहाँ के लक्ष आश्रित, मौनपणे, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी, आत्मकथा करता रहे। मानो भावी अपूर्व विकल्पों के लिये एक नये निमित्त का जन्म हुआ।

यहाँ संग, असत्संग का है, उदय नीरस है। वहाँ का योग निकट भविष्य में होनेके आसार दिखाई नहीं देते, अतः अत्यंत उदासीनता है व व्यवहार में तो बेभान-सी दशा हो जाया करती है।

सत्गुरु द्वारा प्राप्त अनुभव ऐसे काल में विषमता आदि को समताप ने वेदे व अप्रतिबद्ध स्वभावसन्मुख तीव्र वेग करे, यह ही सब से श्रेष्ठ है व शीघ्र मनोरथ पूर्ण होनेका यह ही शुभ लक्षण है।

बंध रुचिवाला सर्व क्षेत्र-कालादिक में बंधरूप ही रहता है, अबंध रुचिवाला सर्व क्षेत्र-कालादिक में अबंधरूप ही रहता है, यह नियम है।

``देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मानि।
यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र समाधयः।।''

(- `श्रीमद् (राजचंद्र)' से उद्धृत)

तीव्र ताप बरसात इच्छती है व बादल जलरूप परिणम जाते हैं - ऐसे घनिष्ट संबंध (निमित्त-नैमित्तिक) जगत में हैं; परंतु इनके अस्थिर स्वभाव को जानकर ज्ञानी इन्हें नहीं इच्छते; निमित्त-नैमित्तिक स्वभाव के अभावरूप सहज नित्य निरिच्छक स्वभाव को ही इच्छते हैं और यह ही योग्य भी है।...

सहज ज्ञानामृतरस इच्छुक
निहालचंद्र

❁ अरे ! ऐसे चमत्कारी स्वभावकी बात स्वलक्ष्यपूर्वक ग्रहण करे तो मिथ्यात्व चूर-चूर होकर विलीन हो जाय, ऐसी यह बात है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

८

कलकत्ता
२८-६-१९५३

धर्मप्रेमी... निहालचंद्रका धर्मस्नेह।

`कार्ड एक आपका लगभग पंद्रह दिवस पहले मिला था, मैं कार्यवश रांची गया हुआ था अतः जवाबमें विलम्ब हुआ।

आशा है परम कृपालु गुरुदेव सुख-शांतिमें विराजते होंगे व आप लोग निरंतर उनकी अमृतमयी वाणीका लाभ लेते होंगे। यहाँ तो पुण्ययोग ही ऐसा नहीं है कि वहाँका लाभ शीघ्र-शीघ्र मिला करे। निवृत्तिके लिये जितना अधिक छटपटाता हूँ उतना ही अधिक इससे दूर-सा रहता हूँ, ऐसा योग अबके हो रहा है। कई बार तो फूट-फूट कर रोना-सा आ जाता है। शायद ही कोई दिवस ऐसा निकलता है कि बारंबार वहाँका स्मरण नहीं आता होवे। किसीने कहा है कि -

``मिलत एक दारुण दुःख देई।
विछुडत एक प्राण हर लेई।।''

सो संयोगोंकी अपेक्षा यहाँ तो ऐसे ही ऐसे संगमें रहना पड रहा है जहाँ कि दारुण दुःखका अनुभव हुआ करे।

परम कृपालु गुरुदेव कहते हैं कि ऐसे दुःख-सुख भावोंको पूर्णरूपसे, एकाकाररूपसे जीवको नहीं भोगना चाहिए। सम्यक् एकांतरूपसे स्वरूपदृष्टिके बलसे सहज ही, अंशे-अंशे, जीव इनसे क्षणे-क्षणे सरकता रहे, भिन्न पडता रहे व ऐसी दृष्टिका अभ्यास निरंतर बढता रहे, यह ही भावना है।...

धर्मस्नेही निहालचंद्र

९

कलकत्ता
५-७-१९५३

धर्मप्रेमी... से निहालचंद्रका धर्मस्नेह।

कार्ड आपका मिला। पूर्व पत्र कुछ चिंतित दशाके समय लिखा गया था, अतः शायद आपको कुछ खयाल-सा हुआ दिखता है।

जिस सामान्य ध्रुवस्वभावमें चिंता व अचिंता - दोनों ही पर्यायका अभाव है, उसके आश्रय पश्चात् बेचारी अल्प चिंताकी स्थिति ही कितनी ?

पूज्य गुरुदेवश्रीकी अनुभवरससे भीगी हुई वाणी वहाँ `कर्ता-कर्म अधिकार'की वर्षा कर रही है - अहा ! आपकी इस हार्दिक भावनाका मैं हृदयसे स्वागत करता हूँ कि मैं भी आप सबोंके संग इस वर्षामें स्नान करुँ।

अरे विकल्प ! यदि तुझे तेरी आयु प्रिय है तो अन्य सबको गौण कर व गुरुदेवके संगमें ले चल, वरना उनका दिया हुआ वीतरागी अस्त्र शीघ्र ही तेरा अंत कर डालेगा।

स्वसंग, गुरुसंग व मुमुक्षुसंगके अलावा दूसरे संगको नहीं इच्छते हुए भी, अरे प्रारब्ध ! विषतुल्य संगमें रहना पड रहा है, खेद है।

पूर्ण चेष्टा है, शीघ्र योग मिलते ही वहाँ आऊँ; परंतु अभी कोई नज़दीक समय दिखाई नहीं देता है, फिर भी प्रयत्न पूरा है।

सबोंको यथायोग्य।

धर्मस्नेही निहालचंद्र

१०

कालिम्पोंग (दार्जिलिंग)
२४-८-१९५३

ॐ

``ऐसे मुनिवर देखे वन में, जाके राग-द्वेष नहीं मन में''
आत्मार्थी....

मैं कलकत्ता से एक माह लगभग हुआ बाहर गया था, परंतु खेद है सोनगढ़ आनेका सौभाग्य नहीं हो सका। सेठ बच्छराजजी के साथ `गया' जाना हुआ था।....

सेठ बच्छराजजी व मोहनलालभाई का सोगनढ़ जल्द जाने का विचार है, परंतु खेद है मैं फिर भी अभी नहीं आ सकता; दीवाली के पास तक आना हो सकेगा ऐसी आशा है। परसों यहाँ से कलकत्ता जाऊँगा।

वहाँ परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव परम सुख-शांति में विराजते होंगे; हृदय में उनको नमन करता हूँ।

``अपनी सुधि भूल आप, आप दुःख उपायौ।
ज्यौं शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ।।''

❁

``मन वच तन करि शुद्ध भजो `जिन' दाव भला पाया।
अवसर मिले नहीं फिर ऐसा, यों सत्गुरु गाया।।''

❁

``धन धन साधर्मीजन मिलनकी धरी।
बरसत भ्रमताप हरन, ज्ञान घन झरी।।''

❁

वहाँ सर्व मुमुक्षु मण्डली श्री गुरुदेव की धर्मामृत-वाणी-पान में मग्न है; विचार आते ही, दूर रहने रूप दुर्भाग्य का खेद होता है।

``चिद्राय गुन सुनो प्रशस्त गुरु गिरा।
समस्त तज विभाव, हो स्वकीयमें थिरा।।।''

❁

``कुगुरु, कुदेव, कुश्रुत सेये मैं, तुम `मत' हृदय धर्‌यो ना। परम विराग ज्ञानमय तुम, जाने विन काज सर्‌यो ना।।''

❁

``हे जिन ! मेरी ऐसी बुधि कीजे।
राग-द्वेषदावानल तें बचि, समता रसमें भीजे।।''

❁

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❁ `ज्ञायक ज्ञायक ज्ञायक हूँ, ध्रुव हूँ' ऐसे अंतरमें संस्कार डाले तो आत्मलक्ष्य होकर अनुभव होगा ही।

- पूज्य गुरुदेवश्री

११

कलकत्ता
१०-११-१९५३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

पवित्र आत्मार्थी...

आप दोनों का लिखा हुआ कार्ड कल रात्रि मिला। सोनगढ़ का पत्र देखते मात्र ही हृदय कैसा डोल उठता है, व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। वहाँ की स्मृतियों बिना कोई दिवस नहीं गुज़रता। आपके अंतरंग को भली प्रकार समझता हूँ, फिर भी पत्रादिक की प्रवृत्ति में मन संकुचित-सा रहता है अतः उत्साहवर्द्धक पत्र नहीं लिखा जा सका था।

कुछ समय से यहाँ के दिगंबर जैन मंदिरजी में रात्रि को एक घन्टे मुमुक्षु भाईयों के साथ शास्त्रस्वाध्याय होता है। पूज्य श्री गुरुदेव की शारीरिक अस्वस्थता व स्वस्थता के समाचार समय-समय पर उन भाईयों के पास वहाँ के पत्रादिक आते थे उनसे मालूम होते रहते थे। परम-परम हर्ष है कि परम अद्भुत, जीवन उद्धारक, जन्म-मरणरूपी रोग से रहित करनेवाले योगीराज श्री सद्गुरुदेव का स्वास्थ्य अब बिल्कुल ठीक है। अनादि-अनंत आयु के धारक चैतन्य गुरुदेव की देह भी दीर्घायु होवे, ऐसी भावना है।

बाह्यप्रवृत्ति व संयोगों से इच्छा (राग) का माप नहीं होता व इच्छा से निरीच्छुक सूक्ष्म अभेदवृत्ति का माप नहीं होता। इच्छा होते हुए भी पुण्ययोग बिना क्षेत्रान्तर नहीं होता। वहाँ आने-जाने आदि के वायदे निश्चय निहालभाई के नहीं समझो। निश्चय निहालभाई

तो अनादि से कहीं आये-गये ही नहीं, न अब अनंतकाल कहीं आने-जानेवाले ही हैं। न कभी किसीको वायदा किया ही था न करनेवाले ही हैं। वायदे व आने-जाने आदि का कार्य सब जड़ाश्रित जड़ का ही है, चेतन निहालभाई का नहीं। चेतन ने तो इस ही के कहलाये जानेवाले राग से भी कभी निमित्तरूप संबंध तक नहीं किया तो अन्य क्रियाओं व वायदों में तो इसका संबंध देखना वृथा है। हे प्रभो ! सर्व जीव सर्व संबंधों से रहित मात्र सामान्य चेतन में ही अपने अस्तित्व की दृष्टि करें व लिखने, पढ़ने, आने, जाने, वायदे करने-कराने आदि सर्व पागलपन की क्रियाओं को उपचारिक निमित्तपने भी क्षय कर देंवे, यह ही भावना है।

जड़ निहालभाई को अब भी सोनगढ़ पहुँचने में करीब २० दिवस और लगें, ऐसी आशा है। कलकत्ते से एक हफ्ते में क्षेत्रांतर होनेके आसार हैं।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❁ ज्ञानमें चैतन्यस्वभावकी महिमा व महत्ता भासित हो तब ही ज्ञान अंतरमें ढ़लता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

१२

कलकत्ता
२-१-१९५४

ॐ

आत्मार्थी....

आशा है परम कृपालु उपकारी श्री गुरुदेव सुख-शांति में विराजते होंगे। `निर्जरा अधिकार' व श्री `मोक्षमार्ग प्रकाशक' का आठवाँ अध्याय बहुत सरस चल रहा होगा।

पत्र आपका मिला, समाचार निगाह किये।.... आप लोगों का विहार समय का प्रोग्राम जाना। जैसा अनुकूल योग होगा, गिरनार यात्रा आदि के समय का मेल मिलाने की चेष्टा करुँगा। परंतु अब योग होना कुछ कठिन-सा दिखाई पड़ता है।

आप लोगों को व्यक्त करने में असमर्थ हूँ कि वहाँ के लिये मुझे कितनी उत्सुकता रहती है। महाराजश्री के विहार पहले उनके प्रवचन, साक्षात् दर्शन आदि का लाभ न होना हीन पुण्य का सूचक है।

समयपर वहाँ नहीं पहुँच सकने के विषय पर आपकी परेशानी जानी। आपके वाचक शब्दों से वाच्य भाव का अनुमान होता है। मोक्षार्थी अपने क्षणिक अल्पकालीन भावों का मूल्य नहीं आँकते।

सबों को यथायोग्य।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

१३

अजमेर

१७-१-१९५४

आत्मार्थी...धर्मस्नेह।

आपका पत्र मिला। समाचार निगाह किये। इस समय सोनगढ़ का वातावरण विहार की अद्‌भुत उमंगों से भरा हुआ होगा। सर्वश्रेष्ठ नेता सहित मोक्षमण्डली स्थान-स्थान पर विजय का स्तंभ रोपने जा रही है, यह विचार हृदय को खूब उल्लसित करता है। दुर्भाग्यवश मुझे ऐसे अवसर पर वहाँ नहीं रहने का खेद है। आशा है गुरुदेवश्री का आत्मस्वास्थ्य व शारीरिक स्वास्थ्य निरंतर वृद्धिगत होंगे।

आपने व्यावसायिक, यहाँ की मेरी परिस्थिति बाबत पूछा सो इस विषय को आपको लिखने का विचार नहीं होता है। हमारी नींव तो मुक्तिरस के विचारों पर पड़ी है। दूसरे विचारों में आपको रस आवे, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। अभी कार्यवश पत्र बंध करता हूँ। आपका प्रोग्राम लिखते रहना। स्वस्थान को मुख्य रखकर ही परस्थानों के क्षणिक विकल्पों का सहज ज्ञान होता रहे, यह ही इच्छा है।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र

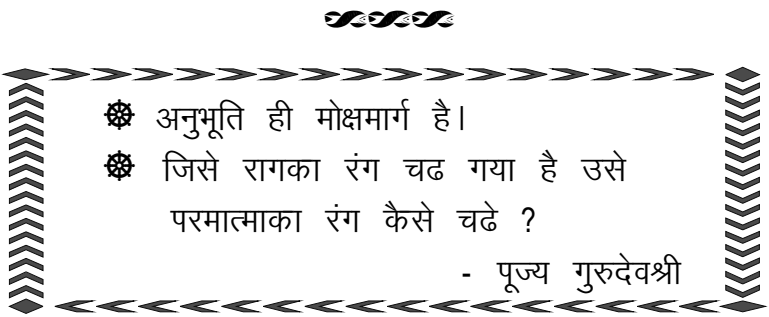

१४

कलकत्ता
१-२-१९५४

धर्मप्रेमी...निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

आशा है कल दिन मुक्तिदूत श्री सद्गुरुदेव व मुमुक्षुगण राजकोट सकुशल पहुँच गये होंगे। लोक में अलौकिक क्रांति फैल रही होगी।

आपका पत्र मिला। मांगलिक विहार के आदि व अंत स्थान गुरुदेवश्री की जन्मभूमि `उमराला' का चित्रित दैनिक अंक भी मिला। यहाँ इस भक्तिभावपूर्ण अंक को मुमुक्षुओं के बीच वांचने का शुभयोग भी मिला। सबों ने हृदय से रसास्वादन किया।

रह-रह कर विकल्प होता रहता है कि कमसे कम एक दो वर्ष निरंतर अलौकिक सत्पुरुष के सहवास में रहना होवे, परंतु प्रारब्ध अभी ऐसा नहीं दिखता है। विहार में जूनागढ़ आदि का योग शायद नहीं है।

मुझे व्यावहारिक अनुकूलता रहा करे, ऐसी आपकी सद्भावनाओं को मैं भलीभाँति समझता हूँ; कारण अबके आपके अधिक नज़दीक में रह चुका हूँ व आपके प्रति के मेरे विकल्प इसके साक्षी होते रहते हैं। फिर भी ऐसी भावनाओं को मुख्यदृष्टि स्वीकार नहीं करती, सहज ही निषेध वर्तता जाता है। भावना एक समय की व उस ही समय `हम' इससे अधिक। स्वाभाविक न होनेसे एक दूसरे के आश्रित, विचित्रता धरती हुई राग-द्वेष में परिणत हो जाये या वीतरागता में, ऐसा स्वभाव है; राग भी नित्य नहीं रहता।

अहो ! बिना विकल्प का कोरा आनंद ही आनंद ! त्रिकाली गुब्बारे को पूर्ण फुलाये बिना (विकसित किये बिना) अब एक क्षण भी चैन नहीं है ! ध्यानस्थ अवस्था में बैठा हुआ, अथाह ज्ञानसमुद्र

व उसमें सहज केलि ! ऐसा अनुभव मानो 'मैं ही मैं हूँ,' आनंद की घूँट पिये जा रहा हूँ - अरे रे ! वृत्ति आनंद से च्युत होने लगी। पर वाह रे पुरुषार्थ ! तूने साथ रही उग्रता का संकल्प किया, मानो अथाह की थाह सदैव के लिये एकबार में ही पूरी ले लगा। प्रदेश-प्रदेश व्यक्त कर देगा। सहज आनंद से एक क्षण भी नहीं हटने देगा। पर अरे योग्यता ! तूने पूर्णता के संकल्प का साथ नहीं देकर अंत में च्युत करा ही तो दिया, तो फिर इसका दण्ड भी भुगतना पड़ेगा।

बहिनों की सद्भावनाएँ देखकर उनकी इच्छानुसार अपनी व्यावहारिक अनुकूलता आदि का समाधान भी करना होगा। संक्षेप में बात यह है कि आर्थिक स्थिति पहले से साधारणतया अच्छी है। सोनगढ़ समय पर पहुँचने के वास्ते यहाँ से रवाना होने हेतु टिकट आदि का प्रबंध हो गया था, देहली आदि तार भी दिये थे। हमारे यहाँ का मुनीम एक होशियार व्यक्ति है, परंतु पैसे के कार्य में कच्चा है। रवाना होने की पहली रात मालूम हुआ कि पाँच-चार जगह से उगाही की रकम लेकर चुपचाप निजीकार्य में उसने खर्च कर दी है। स्थिति को काबू में करने का विकल्प हो गया। रुकना हो गया। दूसरा बंदोबस्त जल्द नहीं बैठ सका व मेरी अनुपस्थिति में सब रकम साफ़ न हो जाये, ऐसा विकल्प उठ खड़ा हुआ। गृहस्थभूमिका है, शिथिल योग्यता की विजय हो गई, रुकना हो गया; बस इतनी ही बात है, अतः लिखना ठीक नहीं समझा था; और भी सहकारी कारणों ने रुकने में ही सहायता दे दी।

विहार के व राजकोट के कोई विशेष महाराजश्री के उद्गार लिखना। व कोई महत्त्वपूर्ण घटना होवे तो लिखना .... आप सब

को सहजानंद की प्राप्ति होवे, यह ही इच्छा है।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र

आपने लिखा कि शांति से पत्र लिखने की फुर्सत नहीं है क्या ? अभी शांति है यह बताने हेतु समाप्त किये बाद भी लिखने का विकल्प हुआ है।

``पर्याय एक ओर से प्रवेश करती हुई दिखती है; दूसरी ओर से रमती हुई दिखती है; तीसरी ओर से उघड़ती हुई दिखती है। वस्तु विचित्र है!

दीपक की लौ बुझने के पहले समय अधिक प्रकाशित होती है। सहजानंद से च्युत होनेवाला पुरुषार्थ निर्बल होनेके पहले समय अधिक उग्र होता है। द्रव्य तो सहज पुरुषार्थ का पिण्ड है, उसकी दृष्टि में सहज ही च्युति नहीं होती।''

``जीवन के परिणमन की अति विचित्रता देखो रे ज्ञानी !''

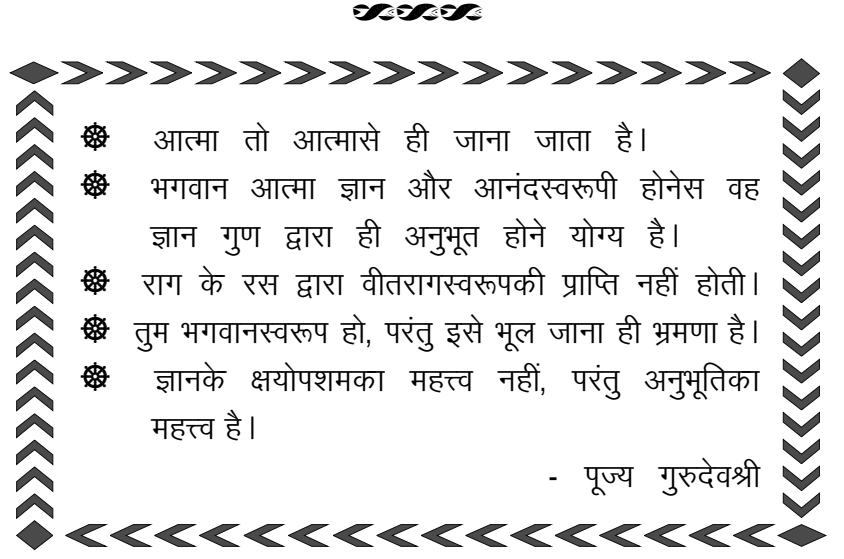

- ❁ आत्मा तो आत्मासे ही जाना जाता है।
- ❁ भगवान आत्मा ज्ञान और आनंदस्वरूपी होनेस वह ज्ञान गुण द्वारा ही अनुभूत होने योग्य है।
- ❁ राग के रस द्वारा वीतरागस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती।
- ❁ तुम भगवानस्वरूप हो, परंतु इसे भूल जाना ही भ्रमणा है।
- ❁ ज्ञानके क्षयोपशमका महत्त्व नहीं, परंतु अनुभूतिका महत्त्व है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

१५

कलकत्ता
२५-६-१९५४

ॐ

पूज्य गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

पत्र पहले भी आपके मिले थे व एक अब भी कलकत्ता में मिला। मैं क़रीब दो माह से कलकत्ता से बाहर था, अतः जवाब आदि नहीं दिया जा सका था। क्या बताऊँ, हृदय को पूर्णतया व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यहाँ भी तीव्र भावनाएँ थी कि पूज्य गुरुदेव के विहार में अवश्य साथ होऊँ। कुछ दिनों अजमेर रहना हुआ, वहाँ से उमराला का प्रोग्राम भाई सोभागमल दोशी भजनमण्डलीवालों के साथ जमाया था, परंतु वह भी पूर्ण नहीं हो सका। यहाँ से गए पश्चात् २०-२५ दिन शारीरिक अस्वस्थ्यता के कारण देर अधिक हो गई थी, अतः मिलवालों के तार-टेलिफोन बहुत आनेसे, अत्यंत खेद है कि पूज्य परमोपकारी गुरुदेव के दर्शन बिना ही कलकत्ता वापस लौटना पड़ा। अब इस हालत में उधर जल्दी आनेका प्रोग्राम फ़िलहाल नज़र नहीं आता है। सेठ बच्छराजजी, मालूम हुआ कि सोनगढ़ गए हैं, पहुँचे होंगे। पुण्ययोग नहीं है, वहाँ का संयोग नहीं है, अरुचिकर वातावरण का योग है। महान् अफ़सोस है। आपकी बारंबार की भावनाओं को, मुझे वहाँ बुलाने को, मैं भलीभाँति समझ सकता हूँ; मेरा भी हृदय वहाँ के लिये अब आतुर है। काफ़ी समय हो गया है। पूज्य गुरुदेव की व सोनगढ़ के वातावरण की स्मृतियाँ बारंबार उत्साह को बढ़ाती रहती हैं। पापबंध ढीले पड़ते हैं, पुण्यबंध वृद्धि पाते हैं, विवेक में है;

पर इन सबसे क्या ? अहो गुरुदेव ! आपने तो इन दोनों से ही निराली वृत्ति दिखा दी है, जो कि इनके होते हुए भी विचलित नहीं होती, खूँटे के सहारे से डिगती नहीं है, उसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का प्रतिबंध नहीं है। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि जो कुछ लाभ है सो तो यह वृत्ति ही है, अनंत सुखों के पिण्ड के साथ रहती है, फिर चिंता काहे की ? यह तो स्वयं स्वभाव से ही चिंता रहित है, निश्चित वृत्ति में चिंतित वृत्ति का तो अत्यंत अभाव है। हे भगवान ! आपकी यह वाणी मस्तिष्क में नित्य घूमती रहे, यह ही भावना है। अधिक फिर।...

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❁ आत्ममार्ग तो अंतर-प्रयत्नसे प्राप्त होता है।

❁ भगवान आत्मा तो महिमावंत पदार्थ है, अजायबघर है, उसके प्रति कौतूहल तो कर !

❁ वर्तमान अंश स्वतंत्र है - यह जिसको स्वीकृत हो, उसे ही द्रव्यकी स्वतंत्रताकी श्रद्धा हो सकती है।

❁ आत्मवस्तुकी ओर दृष्टि करते ही आत्म प्राप्ति होती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

१६

कलकत्ता

२७-६-१९५४

ॐ

आत्मार्थी....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

पत्र एक पहले दिया सो पहुँचा होगा। आशा है पूज्य परम उपकारी सद्गुरुदेव सुख-शांति में विराजते होंगे व श्रोतागणों को अमृतरस में स्नान करने की प्रेरणा मिलती होगी।....

धर्मस्नेही

निहालचंद्र

- ❁ ज्ञान तो उसे कहें कि जिससे निड़रता और निर्भयता आए।
- ❁ सम्यग्दर्शनका विषय ध्रुव भगवान बंध-मोक्षके कारण व बंध-मोक्षके परिणामसे शून्य है।
- ❁ त्रिकाली ध्रुव तो सम्यग्दर्शनके परिणामसे भी शून्य है।
- ❁ उत्पाद-व्य तो परिणाम हैं, उन्हें ध्रुव स्पर्श ही नहीं करता, तो करे कैसे ?

- पूज्य गुरुदेवश्री

१७

कलकत्ता
२५-७-१९५४

ॐ

श्री कहानगुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....निहालचन्द्रका धर्मस्नेह।

आशा है पूज्य गुरुदेव सुख-शान्तिमें विराजते होंगे। मुमुक्षुमण्डल प्रतिक्षण आत्माश्रित सुखकी वृद्धिमें रत होवो!

आपका पत्र यथासमय मिला था। मेरा अजमेरमें तो लगभग १५-२० दिवस ही रहना हुआ था। आपने लिखा कि ``विकल्पनुं कांईक कार्य आव्युं नहीं'' सो हमारा तो सिद्धांत भी यह ही है कि - विकल्पके अनुकूल कार्य होवे ही, यह आवश्यक नहीं है; विकल्प विकल्पमें, कार्य कार्यमें।

मोक्षमार्गीको कुटुम्बीजनों मध्ये सुख मिलता होवे, यह कल्पना ही गलत है।

``जाल सौ जग-विलास, भाल सौ भुवन वास,
काल सौ कुटुम्ब काज, लोक-लाज लार सी।''

- बनारसीदासजी

उसे तो निरन्तर आत्मरमणता चाहिए। `अरे ! जिसे धार्मिक जनोंके संग भी नहीं रुचते, उसे कुटुम्ब-संग तो रुच ही कैसे सकता है !' अरे ! विकल्पाश्रित पदार्थसे भी लाभ नहीं, साथ ही विकल्पसे भी लाभ नहीं।

आपने लिखा कि `निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐवो छे के तीव्र भावना होय तो पापनो उदय पलटीने पुण्यनो उदय थई जाय।' विकल्पानुसार पदार्थकी प्राप्ति होना पुण्य नहीं है, वरन् तीव्रता पलटकर

मन्दता होना पुण्य है। अतः राग छूटने अथवा कम होनेमें सुख है, पदार्थके मिलनेमें नहीं। अतः आत्माश्रित रागकी मन्दता होवे, यह ही भावना है।

गुरुदेव कहते हैं : ``इच्छामां सावधानपणुं ज्ञानीने नथी, पोताना स्वभावनुं सावधानपणुं चूकीने परपदार्थमां सावधानपणुं ज्ञानी करतो नथी'' - ज्ञानीने इच्छानी इच्छा नथी। प्रदेशे-प्रदेशे मैं मात्र चैतन्य-चैतन्य व आनन्द ही आनन्दसे ओत-प्रोत वस्तु हूँ। स्वरूपरचना पर्यायमें स्वतः ही हुए जा रही है। इच्छा तोडूँ, स्वरूपकी वृद्धि करुँ आदि विकल्पोंका जिस सहज स्वभावमें सहज ही अभाव है। अरे ! सहज शुद्धपर्यायका भी जिस त्रिकाली ध्रुववस्तुमें सहज ही अभाव है, ऐसी नित्य वस्तु मैं हूँ, त्रिकाली परिपूर्ण हूँ - ऐसी दृष्टि एकबार अवश्य-अवश्य हो जाओ - बस ! सुखसमुद्रका दरिया एकदम सहज उमड़ पड़ेगा। परके लिये विकल्प करना बेकार है। अरे ! मैं बिना किसीके ही अभी ही परिपूर्ण हूँ, एकबार ऐसी तीव्र भावना होनी चाहिए, ताकि सामान्य वस्तुके बोधका अवसर आये। `परमें सावधानीपणा नहीं, स्वमें सावधानीपणा होना चाहिए।'

अरे द्रव्य सामान्य ! तेरे प्रतापसे झुकती हुई पर्याय (परिणाम) भी सहज खड़ी होती जाती है; अनादिका बोझा प्रतिक्षण हटता जाता है; उत्तरोत्तर सुखकी वृद्धि होती जाती है। ... धन्य है तेरा बोध ! गुरुदेव कहते हैं :-

``ज्ञानीने ज्यां स्वरूपनिधान प्रगट्युं, त्यां पर्यायमां (शरीरमें नहीं, परिणाममें) जुवानी आवी जाय छे, निर्भयता अने निःशंकता थई जाय छे। क्षणे-क्षणे अबन्धस्वरूप प्रगट थतुं जाय छे। वर्तमान पुण्यभाव थाय अने अेनुं फल हजो, अेवी वांछा ज्ञानीने नथी।'

कीचड़में धँसनेपर भय वृद्धि पामता जाता है परन्तु चैतन्यमें

धँसनेपर निर्भयता वृद्धि पामती जाती है। मैं चैतन्य चैतन्यमें ही चलता हूँ; जड जडमें; विभाव विभावमें; मुझ नित्यमें मेरी पर्याय (परिणाम)का भी प्रवेश नहीं है; अन्यकी बात ही क्या ? अरे ! परिणाम परिणमता है और उस ही समय `मैं' अपरिणामी हूँ। अरे भगवान कारणपरमात्मा ! तेरे दर्शन होते ही विभावकी पीठ दिखने लगती है; तेरा यथार्थ भान हुए बिना पूर्वमें परिणामाश्रित परिणामोंका इतना तीव्र बन्ध कर चुका था कि उनकी अवधि ख़तम होनेके लिये तेरे दर्शन स्वाभाविक होने ही थे। अरे चैतन्य ! तेरी इतनी पहोलाई बिस्मित-सा कर देती है ! हे गुरुदेव ! आप कितनी पहोलाई तक प्रसर चुके हो, पहोलाई भी है साथ ही ठोसपना भी ! हे गुरुदेव ! आपकी वाणीका स्पर्श होते ही मानो विश्वकी उत्तमोत्तम वस्तुकी प्राप्ति हो गई। क्या मैं मुक्त होनेवाला हूँ ! अरे ! शास्त्रोंमें जिस मुक्तिकी इतनी महिमा बखानी है, उसे आपके शब्द मात्रने इतना सरल कर दिया ! क्या विश्वमें अब और भी कुछ चाहना बाकी रह गई ? अरे निरीच्छक वस्तु ! रागरहित अतीन्द्रिय आनन्दका अपूर्व स्वाद-अपूर्व सहज ज्ञानकला !

गुरुदेव कहते हैं - ``मारुं ज्ञानतत्त्व ज मने गमे छे। गमे ते क्षेत्र होय पण पोताना ज्ञानमां ज व्यापीने रहेवो छे. ज्ञानी, पुण्य-पाप (विकारीभाव) शरीर के निमित्तमां अवगाहन करतो नथी, पण पोताना ज्ञानस्वरूपी गगनमण्डलमां ज व्यापे छे.'' - देखी गुरुदेवकी ज्ञानानन्द मस्ती!

गुरुदेवकी कथनशैली तो देखो ! कहते हैं कि - ``अशुद्धता रोकाई जाय छे अेटले के अशुद्धता प्रगट ज थती नथी, तेने अशुद्धताने रोकतो, अेम कहेवाय छे''।

अभानदशामें चैतन्यगाँठ कर्मोंके संगमें कभी इधर लुढ़कती है

व कभी उधर; परन्तु भानदशामें ऐसा बोध होता है कि `अरे ! परिणाम परिणम गया और `मैं' यूँ का यूँ ही रह गया' - ऐसा `मैं' त्रिकाली नित्य-ध्रुव अद्भुत रत्न हूँ।

गुरुदेवके चरनोंमें रत मुक्तिमण्डलीमें मेरे उत्तरकालके स्थानका निश्चित भान है, पर अरे ! यह तो जड़ पद है, मेरा तो चैतन्य पद है।

``निज कल्पनाथी कोटि शास्त्रो, मात्र मननो आमलो,
गुरुवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभलो।''

अनुभव लेखनीमें व्यक्त नहीं हो सकता।

सबोंको धर्मस्नेह।

- निहालचन्द्र

❁ आत्मामें कोई ऐसी शक्ति भी नहीं है जो विकारको करे, तथापि विकार स्वतंत्ररूपसे स्वयंके एक समयके षट्कारकसे होता है।

❁ अनंत शक्तिका सम्राट ऐसा जो भगवान् आत्मा वह सम्यग्दर्शनका ध्येय है परंतु सम्यग्दर्शनरूप ध्यान उसमें नहीं है।

❁ सम्यग्दर्शन ध्यान है और त्रिकाली वस्तु ध्येय है।

❁ निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प समाधि है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

१८

कलकत्ता
९-९-१९५५

आत्मार्थी... धर्मस्नेह।

पत्र एक आज दिन आपने किसीके मार्फत भिजवाया था सो मिला है, पहले भी अजमेरमें मिला था। कई कारणोंसे जवाब लिखनेकी वृत्ति रुक गई, व अब भी पत्रादिक लिखनेको मन नहीं करता है। हमारी तरफके आपको विकल्प होते हैं; परंतु विकल्पोंमें तो जागृति सदा हेय होनी चाहिए, चाहे वह साक्षात् तीर्थंकरके प्रति ही क्यों न होवे। निजद्रव्यमें अस्तित्वका निरंतर श्रद्धान व सहज अनुभव रहनेसे, सहज ही विकल्प टूटने लग जाते हैं व सहज निर्विकल्प स्वाद आने लगता है, जिसके आस्वादन किये बाद विकल्पोंका रस सहज ही ठण्डा पड़ने लग जाता है। हमारा तो मन निज चैतन्यबिंबके अलावा अब कहीं नहीं जाना चाहता। लौकिक दृष्टिसे हमारा एक-डेढ वर्षसे अधिकका समय तीव्र असाताकी दशाओंमें रहा, अतः इस कारणसे भी पत्रादिककी वृत्ति ओछी रही। हमारी तो यह ही इच्छा है कि आपके विकल्प भी और कहीं इधर-उधर न जाकर अपनी निज चैतन्यप्रतिमाको घड़ने लग जायें, तो वस्तुका आश्रय होते ही अपूर्वता प्रकट होवे व हमारी तरफ़के निरर्थक विकल्पोंका अंत हो जाये।

हमारा पत्र आदि न मिले तो कोई ख़याल नहीं करना चाहिए। हमारी वहाँ आनेकी जिज्ञासा काफ़ी है, अभी योग्यता नहीं है, आने पर स्पष्ट कर सकेंगे।

श्री गुरुदेवका प्रसाद दैनिक यहाँ आता है। उनका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक होगा।...

धर्मस्नेही निहालचंद्र

१९

कलकत्ता

२३-३-१९५६

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

कलकत्ते से एक भाई वहाँ गये थे, उन्होंने आपके समाचार कहे थे। विद्वत्परिषद पर वहाँ पहुँचने का निश्चय किया था, वह भी कुछ ही समय अर्थात् एक हफ़्ते तक वहाँ ठहरने का, सो प्रोग्राम बदलने से फिर रुकना हो गया। कुछ योग ही ऐसा है, पूर्व कर्म भी ऐसे हैं कि उत्कृष्ट संयोग से वंचित रहना पड़ रहा है। सर्व प्रथम सोगनढ़ गया था तब ही तीव्र भावना थी कि वहाँ कोई मकान का प्रबंध कर निरंतर गुरुदेव के चरणों में लाभ उठाऊँ; परंतु योग ऐसा है कि अब के तो बरसों से भी दर्शन नहीं हो सके। इस माह में तो वहाँ की बारंबार स्मृतियाँ प्रबलतर होती जा रही है व परिषद पर पहुँचने का योग भी नहीं बना, गोया मुझे परिषद से अधिक प्रेम नहीं था फिर भी सुयोग समझकर समय चुना था। ऐसी हालत में पत्र लिखने का विचार हुआ सो लिखा जा रहा है।

जिस आत्मद्रव्यमें परिणाम मात्रका अभाव है उसमें जम गया हूँ। परिणमन सहज, जैसा होता है, होने दो; हे गुरुदेव ! आपके इन वचनोंने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी है। चञ्चलता व निश्चलता तो परिणाममें है, मैं नित्य हूँ, मेरेमें नहीं, यह अनुभव अपूर्व है। परिणाम क्षण-क्षण निराकुलताकी वृद्धि पामते हैं। ``तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो, गुरु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो।'' सम्यक्

पुरुषार्थसे या तो पुण्ययोग होकर, अनुकूलता प्राप्त होकर राग टूटे अथवा पुण्यके अभावमें वीतरागता बढ कर राग टूटे। राग टूटना निश्चित है, क्योंकि श्रद्धाने राग-अरागरहित स्वभावका आश्रय लिया है व वीर्यकी क्षण-क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होनेसे ज्ञान-आनंदमयी अरागी परिणाम ही वृद्धिगत होंगे, यह नियम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।

अभी रात्रिके आठ बजे हैं, मंदिरजी जानेका समय है अतः बंद करता हूँ।...

सबको धर्मस्नेह।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❁ जब अनंत शक्तियाँ पर्यायमें एक अंश प्रकट होती है, तब आत्मा जाना जाता है।

❁ क्रमबद्ध सिद्ध करनेका हेतु अकर्तृत्व बतलाना है।

❁ एक समयकी वर्तमान हलचलवाली परिणमनशील पर्यायके पीछे प्रभु स्वयं बिराजमान है।

❁ विकल्पोंका गुलाम होनेसे, ज्ञानकी वर्तमान दशामें अनुभूतिस्वरूप भगवान् आत्मा अनुभूत होनेपर भी उसे जाननेमें नहीं आता।

❁ द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

२०

कलकत्ता
४-९-१९५६

ॐ
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी....धर्मस्नेह।

कार्ड मिला। परम पूज्य महान्योगी श्री गुरुदेव के चरणों में सादर प्रणाम। आशा है गुरुदेवश्री सुख-शांति में विराजते होंगे व आप पुण्यवान जीव उनकी साक्षात् अमृतवाणी से पूर्ण तृप्त हो रहे होंगे।

लंबे काल से, हीनयोग से, मुझे तो प्रत्यक्ष गुरुदर्शन का अभाव रहा है। शिखरजी की यात्रा पर, अथवा कलकत्ते के प्रोग्राम पर पुण्योदय से, साक्षात् दर्शन का लाभ होनेवाला है, यह जानकर बहुत प्रसन्नता है।

भादवा सुदी ५ को बहिनें आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेंगी, यह प्रसंग बहुत सुखप्रद होगा। शांताबहिन का आज कार्ड मिला, मालूम हुआ अचरजबहिन की बच्चियाँ भी प्रतिज्ञा लेंगी, बहुत हर्ष का विषय है; मैं इस अवसर पर जैसा कि बहिननें शरीक होनेको लिखा है, वहाँ नहीं आ सकूँगा, इसका मुझे खेद है; बहिन से मेरी असमर्थता सूचित कर देना। प्रसंग के प्रति मेरी हार्दिक अनुमोदना है।

बहिनें सोचती होंगी, निहालभाई ने न पत्र दिया है, न आना ही हुआ है, कहीं सुमार्ग से हटना तो नहीं हो गया है, कारण

अशुभयोगों में तो प्रवृत्ति है व शुभ से उदासीनता दिखती है। मेरे प्रति अनुराग है न, अतः आपको कहकर कार्ड डलवाया होगा। विकल्पात्मक वृत्तियों का तो सहज ही अनुमान कर लिया जाता है, परंतु निर्विकल्पता का माप तो बाह्य से नहीं किया जा सकता; यह तो स्वयं के समाधान का विषय है। बहिनों का व आपका मेरे प्रति वात्सल्यवत् अनुराग है व मेरा भी आप लोगों के प्रति; `यह एक मार्ग' में चलनेवालों का सहज संबंध है। एकाकार गोले में प्रविष्ट दृष्टि से वृत्तियों में फेरफार नहीं किया जा सकता; जड़ पत्रादिक की बात तो दूर। हाँ, इस दृष्टि से यथार्थ ध्येय व मार्ग की निःशंकता अवश्य है, अनुभवगम्य है। शक्तिकी निरंतर पकड अथवा एकतासे अथवा `शक्तिमयी ही हूँ' इस अनुभवसे वृत्तियोंके सहज फेरफारका प्रत्यक्ष समाधान होता है; व गुरुदेवकी वाणीका साक्षात् अर्थ समझमें आता है, जिसका फल वृद्धिगत होते हुए सुखकी पूर्णता है। अशुभमें सहज खेद, शुभमें कुछ उत्साह, सहज ही होता है; पर इन दोनोंमें अथवा शुद्धतामें भी फेरफार करनेसे कोई प्रयोजन नहीं; `मात्र पिंड हूँ,' `वृत्ति नहीं', गुरुदेवके इन्हीं वचनोंको हृदयमें उतार लिया है।

शेष फिर।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

स्वरूपकी दृष्टि होनेसे जो शुद्धपरिणमन होता है, वह अध्यात्मका व्यवहार है, और महाव्रत, तीन गुप्ति आदि शुभराग आगमके व्यवहार हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री

२१

कलकत्ता

२९-६-१९५९

आत्मार्थी....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

आपका कार्ड अजमेर से भिजवाया हुआ मुझे यहाँ मिला। मैं क़रीब १५ दिन से कलकत्ता ही हूँ। व्यापार संबंधी कार्य से आया हुआ हूँ।

श्रीगुरुदेव को मेरा अत्यंत भक्तिपूर्वक नमस्कार कहना और सर्व भाईयों को धर्मस्नेह। मुझे अत्यंत खेद होता है कि मेरा बज़ाय वहाँ रहने के इधर-उधर ही रहना हो रहा है। अभी क़रीब १५ दिवस के और यहाँ ही हूँ और शायद अधिकतर यहाँ ही रहना होगा। चौमासे में १ माह के क़रीब वहाँ रहने की अवश्य पूर्ण भावना है।

`स्वामीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा' की प्रतियाँ, मैं अजमेर जाने से भेजने में समर्थ हो सकूँगा। यहाँ कलकत्ता में सोनगढ़ से संबंधित कौन भाई रहा करते हैं, यदि हो सके तो पता भेजना। और यहाँ योग्य कार्य लिखना।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र सोगानी

❁ कारणपरमात्मा ही यथार्थतया मोक्षमार्ग का हेतु है। - पूज्य गुरुदेवश्री

२२

कलकत्ता
२०-७-१९६१

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी....

पूज्य गुरुदेवश्री सुख-शांति में विराजते होंगे। साधर्मीजन समवसरण जैसे वातावरण में उनकी दिव्यध्वनि जैसी अमृतवाणी का लाभ लेकर अनंतसुख प्राप्त करें, यह ही भावना है।

आपका पत्र ता. १५-७ का मिला। इसके पहले तो कोई नहीं मिला था। हीन पुण्ययोग होने से, सोनगढ़ प्रति के विकल्प की प्रधानता नहीं होने से अभी तक मैं उधर नहीं आ सका, इसका अत्यंत खेद है। गए तीन माह से कुछ ऐसे योग हुए, प्रथम मेरे पिताश्री का स्वर्गवास होना, द्वयम् एक माह पहले मेरे स्वयं के शरीर के छूटने जैसा योग हो गया था। कुछ व्यक्तियोंने मेरे पास एक बैग देखकर, उसमें रकम नहीं होते हुए भी रकमके भ्रमसे मेरे पेट में ९ इंच गहरा खंजर मार दिया। डॉक्टरों को इजीली (शीघ्र) पल्स (Pulse) तक हाथ नहीं आई थी। ऑपरेशन आदि होकर अस्पताल में रहना पड़ा। आज ही घरसे बाहर इस एक्सीडेन्ट के बाद पहले-पहले निकल रहा हूँ।

`किस प्रकार आत्मा अपनी ओर पुरुषार्थ की वृद्धि करने का प्रयोग करता है ?' आपके इस प्रश्न पर मेरा तो इतना ही लिखना है कि प्रथम की यथार्थ श्रद्धा समय, श्रद्धा की पर्यायका अखण्ड की ओर जो झुकाव अथवा लीनता का पुरुषार्थ होता है उसमें कालभेद नहीं है व यथार्थ श्रद्धा में जो पुरुषार्थ का प्रयोग है,

बारम्बार उस ही प्रयोग की वृद्धि होती रहती है, उसे वृद्धि का पुरुषार्थ कहते हैं। पहले के व बादके पुरुषार्थके प्रकारमें कोई प्रकार का फ़र्क नहीं है। इस ही लिये गुरुदेवश्री का यथार्थ समझण पर बारम्बार ज़ोर रहता है, कारण इस प्रथम समझण में ही भविष्य का सम्यक् पुरुषार्थ गर्भित है।

अखण्ड ज्ञानघन पुरुषाकार (देहाकार) शरीर, कर्म, भावकर्म व शुद्धपर्याय से भी ऊँडा चैतन्य तत्त्व `मैं' हूँ, यह ही मेरा अस्तित्व है, शुद्धपर्याय का अस्तित्व भी इसमें गौण है; ऐसी प्रथम यथार्थ श्रद्धा जब ही कही जाती है कि ऐसी श्रद्धा के प्रसार के साथ ही लीनता का प्रथम आत्मानुभव होता है। लीनता का पुरुषार्थ अथवा इसमें वृद्धि यह सब पर्याय के कार्य हैं। मेरापना, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य में है - इस दृष्टि में पर्याय का पुरुषार्थ सहज स्वभाव है। पर्याय अपेक्षा पुरुषार्थ हुआ, वृद्धि हुई, उसे पुरुषार्थ किया अथवा वृद्धि करी, ऐसा कहते हैं। यथार्थ में तो उक्त अस्तित्वपने की अखण्ड दृष्टि के बलपर पर्यायों का क्रम सहज ही अखण्ड की ओर बढ़ता रहता है। पुरुषार्थ आदि की इन पर्यायों में कोई उलटफेर (अधिक व कम पुरुषार्थ आदि का) करना नहीं पड़ता; कारण कि पर्याय में तो मेरा - दृष्टि के विषय का - अस्तित्व ही नहीं है कि `मैं' उसमें कुछ कर सकूँ ! मेरा अस्तित्व तो त्रिकालीपन में है।

आशा है मेरा दृष्टिकोण मैं व्यक्त कर सका हूँ।.....

धर्मस्नेही

निहालचंद्र सोगानी

२३

कलकत्ता
१३-८-१९६१

ॐ

श्री गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही.....

आपका व... का पत्र मिला था। मेरे सोगनढ़ आकर श्री गुरुदेव की वाणी का लाभ लेने वास्ते लिखा सो जाना। मैं शायद सितम्बर के अंत में वहाँ आ सकूँगा, इसके पहले आना होता नहीं दिखाई देता।

मुझे आपके पहले के पत्र नहीं मिले थे, कारण समझ में नहीं आया।

आशा है गुरुदेवश्री सुख-साता में विराजते होंगे।....

आपका
निहालचंद्र सोगानी

❁ (द्रव्य) द्रव्यदृष्टिसे निष्क्रिय है, पर्यायदृष्टिसे सक्रिय है।

❁ एक ओर ज्ञान-सिंधु है व दूसरी ओर भव-सिंधु है - जहाँ रुचे वहाँ जा !

- पूज्य गुरुदेवश्री

२४

कलकत्ता
१९-१०-६१

ॐ

चैतन्यमूर्ति श्री गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी... धर्मस्नेह।

आपका वात्सल्ययुक्त पत्र यथासमय मिला। भरतखण्डका अलौकिक `कर्ता-कर्म अधिकार,' आत्मरससे ओतप्रोत वक्ता, साधक मुमुक्षुगण श्रोता, जिनालयकी सामूहिक भक्ति, निरंतर अमृतवाणीसे संस्कारित-तृप्त भूमिस्थान आदि समवसरण-से दृश्य पुण्यहीनको नहीं सम्भवते, अतः वियोग है। लाभ प्राप्त करनेकी तीव्र प्रतीक्षा है।

पूज्य गुरुदेव कहते हैं - `बहुमान आदिके शुभरागकी महिमा नहीं आकर, उत्कृष्ट चिदानंद स्वभावकी अनुपम महिमाके दृढ निर्णयका पराक्रम होनेपर अंतर स्वभावमें वलण होता है ' स्वरूपसीमाको उल्लंघन किये हुए पूर्व उदय, अखण्ड स्वरूप संस्थानमें दौड़ लगाते हुए, सीमास्पर्शके पूर्व ही भयभीत होकर निराश्रय, लड़खड़ाकर गिरने लगते हैं। क्रमः क्रमः पूर्णता होनेकी, सुख-शांतिके अनुभवपूर्वक निःशंकता वृद्धि पामती है।

बलवानका सब साथ देते हैं। साधकके अखण्डबलके जागृत होते ही, अचेतन पुद्गलादि भी अखण्ड स्वरूपाकार वर्तकर सहायक (व्यवहारे) होने लगते हैं।

पत्रोत्तर मिलना, नहीं मिलना, विलम्ब होना आदि सब विस्मृत करने योग्य हैं। ज्ञानानंदस्वभावकी अनुभूतिमें भंग पड़नेपर लिखने आदिके विकल्प होते हैं सो सब स्वरूपसे निकलते ही प्रत्यक्ष, उन्मत्त-पागलपनकी जड़दशास्वरूप अनुभवाते हैं। जड़से जड़के संबोधनोमें

चेतनको कोई लाभ नहीं।

वर्तमान पर्यायमें पूर्व-उत्तर कालकी पर्यायका ज्ञान विद्यमान है तब स्मरण, मननका बोझा उठाना व्यर्थ है।

शुभयोगमें भी थकान अनुभव करनेवाले जीवके लौकिकयोगकी तीव्र दुःखदशा पर.... हे करुणा सिंधु ! करुणा करो... करुणा करो, यह ही विनती।

पर्याय ही पर्यायका कर्ता है, त्रिकाली अंश अथवा आखा द्रव्य नहीं, यह 'कर्ता-कर्म' की चरम सीमा है। अतः पर्यायमें आखा एकाकार होना योग्य नहीं।

सबोंको यथायोग्य।

-निरंतर समाधि इच्छुक

❁ आत्म-अनुभवके बिना सब कुछ शून्य है।
❁ राग होनेपर भी साधकके हृदयमें सिद्धभगवान् टंकोत्कीर्ण रहते हैं।
❁ कारण परमात्मा यही वास्तवमें आत्मा है।
❁ त्रिकाली ध्रुव सामान्य है, एक वही सर्व तत्त्वोंका सार है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

२५

कलकत्ता
१-११-१९६१

ॐ

सतत दृष्टिधारा बरसाते, चैतन्यके प्रदेश-प्रदेश सहज महान् दीपोत्सवकी क्षणे-क्षणे वृद्धि करते श्री गुरुदेवको अत्यंत भक्तिभावे नमस्कार !

धर्मानुरागी.....

पत्र यथासमय मिला। मेरे प्रति के अनुराग से, बारंबार आप लोगों को मुझे वहाँ बुलाने का विकल्प होता है। परंतु पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य का, दीपावली के अवसर पर, मुझे लाभ संभव नहीं है। आँख के ऑपरेशन का समय कम रह गया है सो पूरा-पूरा ख़याल में है।

श्री दीपचंदजी आदि वहाँ आये हुए हैं व मेरे संबंध में कुछ बात भी हुई लिखा सो जाना। अधिक क्या लिखूँ ? श्री बनारसीदासजी के पद दोहरा देता हूँ :

``मैं त्रिकाल करनीसौं न्यारा, चिद्विलास पद जग उजयारा।
राग विरोध मोह मम नांही, मेरौ अवलंबन मुझ मांही।।''

``तजि विभाव हूजे मगन, सुद्धातम पद मांहि।
एक मोख-मारग यहै, और दूसरौ नांहि।।''

आप सबों को जय जिनेन्द्र।

आपका
निरीच्छुक मोक्षाभिलाषी

२६

कलकत्ता
१६-१२-१९६१

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी....धर्मस्नेह।

लगभग बीस दिवस से रागांश में विशेष खेद-खिन्नता वर्त रही है, ऐसे समय आपका पत्र मिलने से प्रसन्नता हुई। वहाँ से आये पश्चात् १-१।। माह तक सोनगढ़ की विशेष खुमारी रही, अभी तो उसका शतांश भी नहीं है।

व्यावसायिकस्थिति में कई प्रकार के परिवर्तन हो जानेसे, अब चलें, अब चलें, सोचते हुए भी वहाँ आनेका प्रोग्राम नहीं बन सका। गुरुदेवश्री की आँख के ऑपरेशन के ता. २४ बाबत के समाचार `सुवर्णसंदेश' में भी पढ़े थे। परंतु पुण्ययोग के अभाव में उनके साक्षात् दर्शन व वाणी का लाभ कैसे मिले ? व्यवहार से व ख़ास तौरसे अशुभयोग से पूर्ण निवृत्ति चाहते हुए भी, गृहस्थ आदि व्यावसायिक जञ्जालों का ऐसा उदय है कि मन नहीं लगे वहाँ लगाना पड़ रहा है, बोलना नहीं चाहते उनसे बोलना पड़ता है, ऐसी योग्यता है।

हे गुरुदेव ! लोकोत्तर लाभ हेतु आपके वचनों पर श्रद्धा की है, आशीर्वाद देता हुआ आपका मोहक चित्र देखा है। आपके आशीर्वाद से पूर्ण आनंदमयी निधि को प्राप्त हो जाऊँ और अनंत पदार्थों के तीनकाल के अनंते भाव वर्तमान एक-एक भाव से अविच्छिन्न प्रत्यक्ष होते रहें - ऐसी तीव्र अभिलाषा है। दरिद्री को चक्रवर्तीपने की कल्पना नहीं होती। पामरदशावाले को `भगवान हूँ....भगवान हूँ' की

रटन लगाना, हे प्रभो ! आप जैसे असाधारण निमित्त का ही कार्य है। परिणति को आत्मा ही निमित्त होवे अथवा भगवान.... भगवान की गुंजार करते आप; अन्य संग नहीं; यह ही भावना।

मेरा यहाँ रहने का अथवा बाहर जानेका प्रोग्राम तो सदैव की तरह अनिश्चित-सा ही समझो।

अशुभयोग में कंटाला हुआ

- चेतन

- ❁ स्वद्रव्यमें स्वामित्वभाव ही मोक्षका कारण है। परद्रव्य प्रतिका स्वामित्वभाव बंधका कारण है।
- ❁ अनुभवकी शोभा वास्तवमें आत्मद्रव्यके कारण है।
- ❁ निज आत्मा ही अमृतका कुम्भ है, अमृतकी बेल है।
- ❁ पवित्र वस्तु अपवित्ररूपसे परिणमित हो तो वह उसकी शोभा नहीं।
- ❁ वीतरागस्वरूपकी दृष्टि करे तब ही वीतरागता प्रकट होती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

२७

ॐ कलकत्ता

९-४-१९६२

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही... शुद्धात्म सत्कार।

आपका कार्ड व पत्र मिले। मानस्तंभके शुभ प्रसंगपर भी मैं वहाँ नहीं आ सकूँगा, इसका कारण पत्रके साथ भेजी गई शादीकी पत्रिकासे मालूम होगा ! बडे पुत्रकी शादी ता. १६-४ की है; पुण्यवानोंको शुभप्रसंगका योग है, उन्हें अशुभप्रसंगपर बुलाना ठीक नहीं है, फिर भी लौकिक व्यवहारवश दो पत्रिकाएँ भिजवाई हैं। वहाँसे आये पश्चात् परिणति कीचडमें ही फँसी रहती है, जैसी योग्यता है वैसे ही निमित्तों मध्ये रहना हो रहा है। प्रत्यक्ष दुःखसमूहमें वेदन चलता है, परंतु एक ही झटकेमें हटना नहीं होता है। रस बिलकुल नहीं है, खेद वर्तता है। फिर भी ईधरसे निवृत्तियोग नहीं बैठता; यह भी पूर्व कर्मोंकी दैन ही है। अखण्डकी अखण्डताका प्रयास भी शिथिल-सा ही रहता है। हे गुरुदेव ! आपमें तीव्र भक्तिका उदय होनेसे ही इधरके दुःखका इलाज होगा, दूसरा कोई इलाज नहीं, यह भलीभाँति जानता हूँ।

अधिक क्या लिखूँ ? सोनगढकी दयाका पात्र हूँ। आपके उलाहने सुनने योग्य हूँ। करीब एक माहसे कुछ शारीरिक अस्वस्थ्यता भी चल रही है।

हे प्रभु ! शीघ्र इधरसे निवृत्ति होकर गुरुचरणोंमें रहना होवे, जिन्होंने अखण्ड गुरुवासमें चरना सिखाया है, यह ही विनती।

आप सबसे क्षमाका इच्छुक व आपकी वात्सल्यताका आभारी।

निहालभाई

२८

कलकत्ता
१४-७-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....धर्मस्नेह।

पत्र आपका मिला, इससे पहले एक पत्र यहाँ लग्न के समय मिला था, जिसका जवाब भी दिया था। इस मध्ये तो कोई पत्र मिला नहीं। हर पत्र में मेरे वहाँ आनेके लिये स्वाभाविक रागवश आपका अनुरोध रहता है वह न आनेके लिये बहुत प्रकार का उलाहना व उपदेश भी। मेरे परिणामों की स्थिति समय-समय की लिखी तो नहीं जा सकती; इतना ही कह सकता हूँ कि बिना रस के भी परिस्थितिवश लाचारी से ही इधर के अशुभउपयोगों में रहना होता है। मेरी भूमिका में अशुभउपयोग की ही अधिकता है, स्थिरता के प्रयत्न समय भी; अधिक क्या लिखूँ ? ध्रुव आत्मा तो परिणामों में भी किंचित् उथल-पुथल नहीं कर सकता। ध्रुव में श्रद्धा की यथार्थ व्यापकता का यह नियम श्री गुरुदेव ने बताया है, वह सही है, समझ में भी है। राग को इधर करो, उधर करो आदि तो परिणामों पर अस्तित्व समझनेवालों के लिये मुख्यतः अपेक्षाओं के कथन हैं। परिणाम शुभ हैं, अशुभ हैं, इनमें कितना पुरुषार्थ भी सहज लग जाता है आदि ध्रुवकी एकता सहितके ज्ञानमें आता रहता है। श्रद्धाकी अखण्ड एकताके साथ ही चारित्रकी अखण्डता भी ध्रुवके साथ हो जाये, यह ही लक्ष्य है; व यथार्थ श्रद्धाके साथ ऐसा ही होगा, यह ही नियम है। इसके हुए बिना, मात्र ऐसा हुए बिना, जीवको चैन नहीं। अन्य तरफके रागमें निरंतर रस नहीं,

चाहे क्षणिक रस दिखाई भी दे। शुभ निमित्तोंके संगमें अधिक मंद कषायादिक होनेसे स्थिरता भी अधिक व शीघ्र होती रहती है, यह भी ज्ञानमें है; परंतु मुख्य संग तो निर्बाध अपराधीन चेतनका ही है, अन्य संग तो उदयाधीन है। अधिक लिखनेमें सार नहीं। उधर आनेके विकल्प भी बहुबार उठते हैं पर अधिक ज़ोर नहीं खाते। आपके पत्रोंके मात्र उधर आने बाबत लिखे होनेका, अतः क्या जवाब दूँ ? मेरी ऐसी स्थितिमें आप वहाँके रोज़ाना या हफ्तेके खास-खास गुरुदेवश्रीके न्याय आदि लिखो तो अधिक प्रिय लगेंगे। आना तो होगा जब होगा, शायद जल्दी आ भी जाऊँ, ऐसा योग भी दिखता तो है।

सब बहनोंको व शशीभाईको धर्मस्नेह।

- आत्मार्थी

- ❁ आत्माको सदा ही ऊर्ध्व अर्थात् मुख्य रखना चाहिए।
- ❁ स्वयंका सर्वोत्कृष्ट भगवान् आत्मा सिद्धकी पर्यायसे भी सर्वोत्कृष्ट है।
- ❁ चिंतामणि रत्न कहो, कल्पवृक्ष कहो, कामधेनु कहो - वह आत्मा स्वयं ही है।
- ❁ जो आश्चर्यकारी सर्वोत्कृष्ट प्रभु है उसका आश्रय ले तो तुझे आनंद झरेगा।

- पूज्य गुरुदेवश्री

२९

कलकत्ता
३-९-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी... धर्मस्नेह।

आपका पत्र पहले भी मिला था व शशीभाईका एक और भी। आपने लिखा था कि अब निवृत्ति काल पका, यह पढकर बिजलीके वेगकी तरह आनंदकी लहर आयी थी; कारण पूर्व निवृत्ति ही विकल्परूपसे निश्चये भजी थी, ऐसा पूरा प्रतीतिमें आता है। अब तो श्री गुरुदेवकी कृपासे न निवृत्त हूँ, न प्रवृत्त हूँ, ऐसा निश्चय हो चुका है व पूर्वके निवृत्तपरिणामोंने अतः अब निश्चयके बजाय व्यवहारका पद ले रखा है। समय लगभग २० दिन पहले आया भी था, बंबई तक जाना भी हुआ था, सोनगढ पहुँचनेके विकल्प भी अधिक हुए थे मगर इधर ही लौटना पडा, ऐसे कारण हो गये थे। अब दशहरेके बाद उधर आना हो सकेगा।

आप लोग साक्षात् चैतन्यमूर्ति गुरुदेवके सान्निध्यमें दशलक्षणी पर्वके अवसर पर अति उत्साहपूर्वक धर्मलाभ लेंगे, मुझ जैसे पुण्यहीनको यह लाभ कहाँ ?...

अधिक क्या लिखूँ ? विकल्पोंको तो धधकती हुई भट्ठीके योगोंका निमित्त है व इस मध्ये ही रहना हो रहा है, जबकि चैतन्यमूर्ति विकल्पोंको छूनेवाली भी नहीं है; अधूरी दशाके विकल्पांशोंमें श्रद्धामें जमी हुई इस मूर्तिका एक रस आलिंगन कहाँ ! चैतन्यमूर्तिके एक रसमें ओत-प्रोत रहें, यह ही भावना।

धर्मस्नेही निहालचंद्र

३०

कलकत्ता
८-११-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....शुद्धात्म सत्कार।

वात्सल्यानुराग प्रेरित आपका पत्र, कुटुंबियों का दीपावली कार्ड मिला। श्री सेठियाजी सोनगढ़ पहुँचे, जाना। ज्ञानानंदी गढ, वीतरागप्रधानी गुरुदेवकी प्रशस्त राग अंश निमित्तक सिंहगर्जनाओंसे ४७ नयोंपर पुण्यवान मुमुक्षुओंको उल्लासित प्रवचनोंका लाभ हुआ, जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई। पुण्यअभावयोगसे इस अवसरसे मुझे वंचित होना पडा, इसका खेद रहा। श्री गुरुदेवके प्रवचनोंका मुख्य सार मैंने यह लिया है :

वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ। वर्तमानसे ही देवादिक पर अथवा उनआश्रित रागसे किंचित्मात्र लाभका कारण नहीं। लाभ मानना ही अलाभ है। वेदनके अलावा अन्य कोई क्रिया जीवकी नहीं। शरीरआश्रित अथवा परआश्रित आकुलित वेदनको, समकाले ज्ञानवेदन द्वारा, गौण करते-करते नाश करना मुमुक्षुओंका ध्येय है। यह ज्ञानवेदन अखण्ड त्रिकाली अपरिणामी ध्रुव अस्तित्वमयी स्वपनेके अनुभवमें सहज ही उदय होता है। रागसे भेद करता (ज्ञान) निःशंकित निराकुल सुख वेदनके साथ प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट होता है। वृद्धि पामता-पामता अनंत सुख व ज्ञानका लाभ करता है। अप्रसिद्ध अवेदक मुख्य अखण्ड स्वभावमें श्रद्धाके स्वअस्तित्वरूपमें प्रसरते ही प्रसिद्ध वेदन गौण होकर एक ही काल त्रिकाली व वर्तमान दोनों भावोंका अनुभव होता है। यह ही भेदज्ञान है। रागसे पृथक् ज्ञानका अनुभव

ऐसे ही होता अन्यथा नहीं।

योग होनेसे April में श्री गुरुदेवकी जन्मतिथि पर मिलना होगा।

शुद्धात्मस्नेही

निहालचन्द्र

❁ भगवान अंतर में विराजते हैं उन्हें बाहर विकल्पों में, राग की क्रिया में अज्ञानी खोजते हैं।

❁ संपूर्ण सिद्धांत का सार का सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुख होना, वह है।

❁ आनंद सहित के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

❁ चैतन्य आत्मा से प्रेम करना, निर्विकल्प शांति द्वारा आत्मा को देखना, वह धर्म है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

३१

कलकत्ता
८-११-१९६२

ॐ

श्री गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी...शुद्धात्म सत्कार।

आपका दीपावली कार्ड, तत्पश्चात् पत्र मिला। समझमें नहीं आता क्या लिखूँ ? उत्कृष्ट पुण्ययोगसे, ज्ञान-आनंदकी खान अपूर्व सत्पुरुष श्री गुरुदेव निमित्तरूपे आपके समीप हैं; जिनकी निरंतर ध्वनिका संकेत उनकी ओरसे लक्ष्य हटाकर, स्वकी अंतरंग खानका लक्ष्य कराता है। जहाँसे यथार्थ न्याय सुख आदि उघड़ते रहते हैं। अतः स्वअस्तित्वमयी त्रिकाली आत्मामें पसर कर सुखास्वादन करो ! जिस स्वादके वशीभुत देवादिक प्रत्ये भी उदासीनता होने लगती है। इनमें अर्थात् परमें एकांत रस व जागृति होना स्वभावके अरसपनेका सूचक है। वर्तमानसे ही `मैं' परिपूर्ण सुखका सागर हूँ। वर्तमानमें ही देवादिकसे अथवा इन आश्रित रागसे किंचित् लाभ नहीं, लाभ मानना ही स्वका अलाभ है। यह न्याय, तीरकी तौर बाह्य वृत्ति लक्ष्य-प्रति असर करे तो वर्तमानमें ही स्वभावोन्मुख प्रयत्न होवे।....

शुद्धात्मस्नेही
निहालचंद्र

जिनवर और जीव में अंतर नहीं।
- पूज्य गुरुदेवश्री

३२

कलकत्ता
१५-११-१९६२

ॐ

श्री... सादर जयजिनेन्द्र।

आपका ता. १२-११-६२ का पत्र मिला। अन्य लोगोंके चरित्रनिर्माण सम्बन्धी आपका दृष्टिकोण ख़यालमें रखते हुए नीचे स्पष्टीकरण लिखा है :

१. प्रथम तो मैं क्या हूँ व क्या कर सकता हूँ, इसका यथार्थ खुलासा होनेपर कार्यकी यथार्थ सीमा बँध सकेगी। मैं आत्मा हूँ व परिणामका करना और उस ही परिणामको भोगना यह ही मात्र आत्माकी क्रिया है; इसके विपरीत स्वयंके जड़ शरीर आदिका व अन्य आत्माका परिणाम मैं आत्मा नहीं कर सकता, कारण जड़के परिणामका कर्ता जड़ द्रव्य है व अन्य आत्माके परिणामका कर्ता वह आत्मा द्रव्य है। (``उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'')।

२. उक्त प्रकारका यथार्थ निर्णय हुए बाद परपरिणामके किंचित् भी कर्तापनेका अभिप्राय टूट जाता है। मैं परका कुछ कर ही नहीं सकता, तब पराश्रित परिणाम क्यों करुँ, जो कि स्वयं आकुलतामय ही होते हैं। इन परिणामोंको स्वआश्रित करुँ तो शुद्ध ज्ञान-आनंद व शांतिमय परिणाम होंगे व इनहीका भोगना होगा, जो कि वांछनीय है।

३. स्वमें अर्थात् ज्ञान-आनंद आदि गुणोंके भंडार आत्मामें परिणामोंको पसारते ही साधकपना व मुनिपना आदि क्रमपूर्वक आता है। परिणामोंके इस प्रकारके प्रसरणमें ही यथार्थ ज्ञान, सुखादिका

अनुभव उत्पन्न होने लगता है। जिसकी प्रत्यक्षतासे पराश्रित आकुलित परिणाम विषरूप मालूम होने लगते हैं, जो कि सम्यक्दृष्टि साधक व मुनियोंको एक समय मात्रके लिये भी नहीं रुचते।

४. उक्त मान्यता व तद्रूप अनुभव होनेपर अनादिसे चला आया दृष्टिका मोह टूटता है। दृष्टिने जिस स्व अखण्ड स्व आत्माको लक्ष्य किया, उसमें एकसाथ परिपूर्ण परिणामका प्रसरण नहीं होता तब तक परिणामका कुछ अंश अखण्डके साथ सुखरूप परिणमता है व उसही परिणामका कुछ अंश उदयके साथ पराश्रित दुःखरूप परिणमता है। साधक व मुनिके इस प्रकारका पराश्रित परिणमा हुआ रागअंश उपदेशादिकका कारण होता है। यह रागअंश चारित्रमोह है, आकुलतामयी है, यह हर समय हेय है, प्रत्यक्ष दुःखरूप है जो कि मुनियोंको बिल्कुल रुचता नहीं व इसमें उन्हें रस आता नहीं। पुरुषार्थकी निर्बलतासे अखण्ड आत्माकी पूरी पकड़ चारित्र परिणाममें नहीं होनेसे ऐसा रागअंश होता है, जिसका निषेध प्रतिसमय उनकी दृष्टि करती रहती है। एक समयके लिये भी चारित्रमोहस्वरूपी रागअंशको वह अपना कर्तव्य नहीं समझते जो कि प्रत्यक्ष दुःखरूप है। अतः बारम्बार स्वमें स्थित होते हुए, रागअंशको तोड़ते हुए, वह शुद्ध सिद्धरूप हो जाते हैं।

५. मुनियोंके रागांशनिमित्तक उपदेशमें उक्त आशयका संकेत होता है। अच्छी होनहारवाले जीवके वह निमित्तरूप पड़ता है और वह स्वयं भी उपदेशादिककी तरफ़से लक्ष्य हटाता हुआ, उपदेश आदिको मुनियोंका कर्तव्य नहीं समझता हुआ, उनकी अस्थिरताका दोष समझता हुआ, उनपरसे वृत्ति हटाकर स्वज्ञानकी खानमें प्रवेश करने लगता है। अरिहन्तोंके उपदेशमें निमित्त उनका राग नहीं है वरन् कम्पनकी अस्थिरता है।

६. राग व वीतरागता दोनों कर्तव्य नहीं हो सकते, कारण दोनों भाव परस्पर विरुद्ध हैं। अतः अन्यके चरित्रनिर्माणके कर्तव्यमें वीतरागी कर्तव्यका सहज ही अभाव है; साथ ही अन्यके परिणामका कोई कर्ता हो ही नहीं सकता चाहे मान्यता बनाकर स्वयं दुःखी होता रहे।

७. एक बार प्रथम सम्यक्त्व तो अधिगमज उपदेशके निमित्तसे ही होता है। दूसरे भवमें उन संस्कारोंके निमित्तसे बिना उपदेश सम्यक्त्व प्राप्त करनेको नैसर्गिक कहते हैं। परंतु स्वयं पराश्रित दृष्टि हटाकर, स्वआश्रित परिणाम करे तो उपदेशको निमित्त कहा जाता है, कर्ता नहीं। जिसकी योग्यता होवे उसको निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका सहज ही योग होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादिसे चला आता है व चलता रहेगा।

आशा है मुनियोंके उपदेश सम्बन्धी विषयके उपरोक्त स्पष्टीकरणसे मेरा दृष्टिकोण आपके लक्ष्यमें आयेगा। दृष्टिदोष हटे बाद मुनियोंको उपदेशका राग उनकी अस्थिरताका दोष है, कर्तव्य नहीं व इस दोषको स्थिरताका प्रयत्न करते-करते वह हटाते जाते हैं, कर्तव्य समझकर रखना नहीं चाहते।

आपका प्रोग्राम लिखें व पत्र देवें।

शुभैषी

निहालचन्द्र सोगानी

३३

कलकत्ता
९-१२-१९६२

ॐ
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी... धर्मस्नेह।

पत्र ता. २२-११का यथा समय मिला। `अस्थिरतासे देवादिक प्रत्येके परिणामोंमें खेद वर्तते व अखण्ड सद्भावरूप परिणमन होते हुए धर्मीजीवकी बुद्धिपूर्वक देवादिक प्रत्ये स्वरूप दृढीभूत करनेके आशयकी प्रवृत्ति मुख्य तौरसे होती रहती है, ऐसा दिखता है' इस पर विशेष स्पष्टीकरण चाहा सो निम्न है :-

१. स्वरूपकी दृढता देवादिक प्रत्येकी वृत्तिसे निश्चय ही नहीं होती।

२. मनआश्रित (विचारपूर्वक) मान्यतासे यथार्थ अखण्डआश्रित सहज आंशिकवृत्तिका सद्भाव (उद्भव) नहीं हो सकता।

३. त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व, इस आश्रित परिणमी हुई आंशिक शुद्धवृत्ति व देवादिक प्रत्येकी आंशिक बाह्य वृत्ति - तीनों अंशोंका एक ही समय धर्मीको अनुभव होता है, जिसमें मुख्य - गौणका प्रश्न नहीं।

४. स्वके मापसे अन्यका माप किया जाता है। `मैं' त्रिकाली ही हूँ, इस अनुभवमें परिणाम मात्र गौण है, चाहे बुद्धिपूर्वक हो या अबुद्धिपूर्वक। ऐसे धर्मीको कभी परिणामकी मुख्यता नहीं होती। अतः उसे अन्य धर्मी जीवमें भी परिणामकी मुख्यता नहीं दिखाई देती; जैसे कि मात्र परिणाम देखनेवालेको प्रवृत्तिकी मुख्यता दिखती है।

५. धर्मी, अधर्मीके भी त्रिकाली व वर्तमान दोनोंको एक साथ देखता है। त्रिकालीका अभान होनेसे अधर्मीको परिणाम मात्रमें एकत्व होता है, इसका धर्मीको ज्ञान रहता है।

६. वृत्ति अपेक्षा त्रिकालीकी मुख्यतावाले धर्मीको सहज ही इस मुख्य आश्रित वृत्तिकी ही मुख्यता रहती है, वर्तती है; चाहे बाह्यांशमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति हो।

७. त्रिकाली तो प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप परिणामका ही कर्ता नहीं है। परिणामका कर्ता परिणाम ही है, यह अपेक्षा भी अपनी चर्चामें आई ही थी।....

धर्मस्नेही
सोगानी

- भगवान् पूर्णानंदका नाथ, चैतन्यकी जगमग ज्योति है।
- पर्यायका लक्ष्य द्रव्यके तलमें ले जा !
- आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है।
- तू स्वयं पूर्णानंदका नाथ, अनंत गुणोंसे भरा हुआ महाप्रभु सदा ऐसा का ऐसा ही रहता है - इसे याद कर न !

- पूज्य गुरुदेवश्री

३४

कलकत्ता

३०-१२-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही... शुद्धात्म सत्कार।

आपका ता. २४-१२ का पत्र मिला।

आपने वांचन-विचारणा वास्ते लिखा सो त्रिकाली अखण्ड ज्ञानानंद स्वभावमें अस्तित्वरूपी श्रद्धाकी यथार्थ व्यापकता निरंतर कायम रहे, जहाँके अनुभवमें परिणाम मात्रके अकर्तापनेका सहज अनुभव होता रहे। परिणामका कर्ता परिणाम अंश है, `मैं' त्रिकाली अंश नहीं।

इस प्रकारके एक ही समयमें परिणामका कर्ता व अकर्तापनेके अनुभवकी वृद्धि होते-होते पूर्ण ज्ञानका सहज ही अनुभव होगा, यही वांचन व विचारणा है।

आशा है आप भी आत्मस्वास्थ्य सहज वृद्धि करते रहेंगे। यहाँ योग्य कार्य लिखें।

धर्मस्नेही

निहालचन्द्र

३५

कलकत्ता

२१-१-१९६३

आदरणीय श्री....सादर जयजिनेन्द्र।

आशा है आप वहाँ कुशल होंगे। कुछ दिनो पहले आपका कार्ड यथासमय मिला था।.... आशा है अध्ययन आदि चल रहा होगा। Retiredlife में पहले के मुक़ाबिले मानसिक बोझा हल्का महसूस करते होंगे। सोगनढ़ की ओर जाने का भी प्रोग्राम कब है ? धार्मिक ग्रंथों में किन-किन ग्रंथों का स्वाध्याय चल रहा है ?

ज्ञानभण्डार आत्मामेंसे ज्ञान उघड़ता रहता है, शास्त्रोंसे नहीं; यह अलौकिक सिद्धान्त विचारणीय है। उत्तर क्षणमें क्या परिणाम होगा, उसका वर्तमान क्षणमें हमें ज्ञान नहीं, तो भविष्यके लिये क्यों व्यर्थकी कल्पना ? परिणामके अलावा शरीरादिककी क्रियामें तो हमारा कोई कर्तृत्व है ही नहीं। तो फिर इनके आश्रित विभावपरिणामोंका व्यर्थ क्यों बोझा लादा जाये ? उद्देश्यका निर्णय करना सहज परन्तु उसकी प्राप्तिमें समय अधिक लगता है। यथार्थ निर्णयके बाद ही यथार्थकी प्राप्ति होती है। अनुभूति ही यथार्थ निर्णयकी नि:शंकता बता सकती है। चूँकि आपका समय अब अध्यात्म की तरफ़ अधिक लगेगा अतः चंद बातें ऊपर सहज ही लिखी गई हैं।

आगे का प्रोग्राम लिखें।

शुभैषी

निहालचंद्र सोगानी

३६

कलकत्ता

२७-२-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....धर्मस्नेह।

मालूम होता है कारणवशात् निहालभाई के क्षणिक व्यवहार से विरक्ति हो गई है। विरक्ति तो सदैव उपादेय ही है व सहज विरक्ति मुमुक्षुओं का ध्येय भी है।

पूज्य गुरुदेवश्री की आँख में `नीडलींग' की आवश्यकता नहीं रही, जानकर आनंद हुआ। व पूज्यश्री का फाल्गुन सुद ६ से तीन माह वास्ते सौराष्ट्र में विहार होगा, जाना। पुण्ययोग होनेसे उनके दर्शन, प्रवचन का पुनः लाभ मिल सकेगा।

आपकी दी हुई `बनारसी विलास' पुस्तक का वांचन चल रहा है। लिखा है :-

``एक निगोद शरीर में ऐते जीव बखान;
तीन कालके सिद्ध सब एक अंश परिमान।''

``सो पिण्ड निगोद अनंतरास, जियरूप अनंतानंत भास;
भर रहे लोक नभमें सदीव, ज्यों घड़ा मांहि भर रहै घीव।''

केवलीगम्य यह अनंतता साधक के अनुमानगम्य ज्ञान में प्रत्यक्षवत् है। निष्कम्प गंभीर ध्रुवस्वभावआश्रये सहज ऊण्डे-ऊण्डे उतरते-उतरते यह ज्ञान हम सब को प्रत्यक्ष होवे, यह ही भावना।

धर्मस्नेही

निहालभाई

३७

कलकत्ता
११-३-१९६३

श्री.....सादर जयजिनेन्द्र।

पत्र आपका मिला था...। `ज्ञान-ज्ञेय स्वभाव' पुस्तक अच्छी है। अखण्ड त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को ज्ञेय बनाकर, इस आश्रय एकाग्र हुआ ज्ञानपरिणाम, विभावअंश से भिन्न रहता हुआ, विभाव को परज्ञेय की तरह जानता देखता है - यह ही भेदज्ञान है। साधक को एक ही समय में, एक ही परिणाम में दोनों प्रकार का भिन्न-भिन्न अनुभव होता है व अनाकुल ज्ञानभाव का आकुलित विभावअंश से पृथक् स्वाद का प्रत्यक्ष अंतर भासित होता है।....

सोनगढ़ से अभी गुरुदेव राजकोट गये हुए हैं। कमसे कम एक माह तक आप उनके नज़दीक रहने का प्रोग्राम बना लेवें तो अत्यधिक सार्थक होगा।

शुभैषी
निहालचंद्र

❁ तेरा स्वदेश भगवान् अनंत गुणोंकी अद्भुत ऋद्धियोंसे युक्त है - उसमें एक बार दृष्टि दे !
❁ जिन्हें आत्मा रुचता है, उनसे आत्मा गुप्त नहीं रहता।

- पूज्य गुरुदेवश्री

३८

बंबई

१३-४-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही....शुद्धात्म सत्कार।

मैं एक सप्ताह से बंबई आया हूँ।

सौराष्ट्र में मेरा फ़िलहाल जाना नहीं हो सकेगा। अभी तो कलकत्ता ही रहना होता दिखता है। आपका उधर कोई कार्यवश आना होवे तो मैं आशा करता हूँ मैं अवश्य आप से मिल सकूँगा। आप आनेकी सूचना कलकत्ता लिख देवें। यदि मेरा अजमेर, देहलीकी तरफ़ आना होगा तो मैं अवश्य आपसे मिलूँगा। बाह्यनिमित्त व निमित्त आश्रित निजभाव से कोई भी लाभ नहीं होता है। - यह सिद्धांत लक्ष्य में रखकर, निज त्रिकाली अपने स्थित स्वभाव में ही परिणति स्थित होती जावे, ऐसी अनुभूति प्राप्त होना श्रेयस्कर है। अभी जल्दी में पत्र बंध करना पड़ रहा है।

आपके वात्सल्ययुक्त अनुराग भरे पत्र को देखकर कुछ धार्मिक विषयपर भी लिखता, परंतु आज जाने के पहले भी जल्दी है। अतः फिर कभी लिखना हो सकेगा।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र

३९

कलकत्ता
२०-४-१९६३

ॐ
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....शुद्धात्म सत्कार।

पत्र ता. १७-४ का आपका मिला। अलौकिक पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ आप जोरावरनगर, दहेगाँव आदि जा रहे हैं, जानकर चित्त प्रसन्न हुआ। दहेगाँव के श्री भीखाभाई मुझे मिले। वहाँ पहुँचने वास्ते उनका आग्रह भी था। पुण्ययोग से ही श्री गुरुदेव के सान्निध्य में रहना होता है।

``निःशंक निर्णय के लिये किस प्रकार रटन, पुरुषार्थ आदि होना चाहिए'' लिखा, सो अपने अस्तित्व की यथार्थ समझ में सब ही बातें गर्भित हैं। प्रमाणज्ञान का विषय नित्य व अनित्य अथवा त्रिकाली ध्रुव व क्षणिक परिणामी वस्तु एक ही साथ `मैं' हूँ। दोनों प्रकार का अनुभव एक ही समय होनेपर निःशंकता हो जाती है। संसारी (अज्ञानी) जीव को कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप मात्र परिणाम के वेदन की प्रसिद्धि है, उस ही समय त्रिकालीरूप स्व अस्तित्व की नहीं।

परिणाममें से अस्तित्वपने की श्रद्धा हटाकर, त्रिकाली ज्ञानानंद आदि अनंत गुणों के देहाकार असंख्यात प्रदेशी निजपने में श्रद्धा की पर्याय को एकाकार व्यापक करते ही नित्यपने का, निज अस्तित्वपने का प्रति समय अनुभव होता है।

`अपरिणामी, नित्य, त्रिकाली, ध्रुव बिंब मैं हूँ,' क्षणिक परिणाम नहीं' - यह श्रद्धा का विषय है। श्रद्धा एक ही समय में पूर्ण त्रिकाली

को पकड़कर अभेद हो जाती है। यहाँ अस्तित्व की स्थापना होते ही `मैं' परिणाम के साथ नहीं परिणमता। परिणाम का कर्ता परिणाम ही है, `मैं' तो अपरिणामी वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ। वर्तमान से ही मुझे कुछ करना-कराना नहीं है। रटन, पुरुषार्थ, ज्ञान आदि सब परिणाम हैं। इनसे मुझे लाभ-हानि नहीं। मेरी अपेक्षा से यह स्वयं होते हैं। `मैं' अविचल हूँ। इन परिणामों से विचलित नहीं होता। इनसे पृथक् व अधिक हूँ। अपेक्षा से मेरे गर्भ में होते हैं। पर `मैं' इनमें एकमेक नहीं होता। दर्पण का त्रिकाली दल, एक समय की दर्पणाकार पर्याय से भिन्न ही रहता है। दोनों कार्य एक समय में है। यदि दल एक समय के आकार-पर्याय में आ जाये तो त्रिकालीपने का नाश हो जाता है। अतः त्रिकाली ध्रुव नित्य वस्तु में - अपने अस्तित्वपने में श्रद्धा की व्यापकता करते ही सब कार्य सहज स्वभावरूप अनुभव होने लगता है। वर्तमान से ही मुझे कुछ नहीं करना है, ऐसे `मैं-पने' की यथार्थ अभेद प्रतीति होते ही चारित्र-पुरुषार्थ आदि के सब परिणाम सहज ही `मैं त्रिकाली' का अनुसरण करने लगते हैं व शुद्ध होने लगते हैं। परिणामों में उलट-फेर करने की दृष्टि असम्यक् है। इस क्रिया से जब ही हट सकते हैं कि इनसे भिन्न अपरिणामी वस्तु में - निश्चलरूप वस्तु में निश्चल रहें। निश्चय स्व-सत् का संग होना ही पूज्य सद्गुरुदेव के संग का फल होना चाहिए। वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ तो वर्तमान से ही किसीसे भी लाभ व नुकसान नहीं है।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

४०

कलकत्ता

४-७-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....शुद्धात्म सत्कार।

आपके पत्र दहेगाँव व देहली दोनों स्थानों से मिले। मैं क़रीब एक माह से बाहर था। पन्द्रह दिन क़रीब बंबई भी रहना हुआ। पुण्ययोग के अभाव से, महाराज साहब का सोनगढ़ लौटने का प्रोग्राम लंबाने से, सोनगढ़ जानेका सोचा हुआ मेरा प्रोग्राम रुक गया। आप हर पत्र के साथ पतेका ख़ाली लिफ़ाफ़ा भिजवाते हो, अब ऐसे नहीं भेजें, पता मैंने नोट कर लिया है। लिखने का विकल्प ओछा होनेसे जवाब में देर होती है। परंतु लिखना, विकल्प होना क्रियायें तो मुमुक्षुओं को हेय बुद्धि से सदैव सहज गौण ही रहती हैं। यह क्रियायें तो आचार्यों ने उन्मत्तों की कही हैं। पत्र बहुत ही विनयभरे आते हैं। विनयभावों का एकांत वेदन नहीं होना चाहिये। सहज सामर्थ्य में पसरने से, स्वरूप के बल से, सहज ही परिणामों में नहीं घसीटीजेंगे; वह परिणामों का वेदन, ज्ञायकभाव की मुख्यता में हेय बुद्धिए गौण (क्षणे-क्षणे) होता जायेगा। पराश्रित विनयभाव दुःखभाव है, उपादेय कैसे होवे ?

द्वादशांग का सार तो श्री गुरुदेव ने फ़रमाया है कि : ``वर्तमान में ही मूल, कायमी, त्रिकाली, ध्रुव स्वभाव, परिणामों का विश्रामधाम `मैं' हूँ। इस स्थान में दृष्टि पसारकर, स्वयं व्यापक होकर, परिणामों की पकड़ छोड़ दो, इन्हें सहज ही परिणमने दो, इनमें अटको नहीं। परिणमन स्वभाव के समय ही अपरिणामी स्वभाव भी साथ

ही साथ है। इस अपरिणामी स्वभाव को नित्य पकड़े रहो, यहाँ जमे रहो; इसके बिना निस्तार नहीं है। पत्रादिक का आधार, शास्त्राधार, अरे ! प्रत्यक्ष तीर्थंकर की आधारबुद्धि भी स्वयं वर्तमान सामर्थ्य का अनादर करनेवाली है।" ऐसा कह कर ही परम कृपालु गुरुदेव ने वर्तमान से ही उनपर से दृष्टि हटाकर, अघट-बढ़ त्रिकाली सदृश्य सामान्यस्वरूप में अपना अड्डा जमाकर निश्चल बिराजने को कहा है। उनके ऐसे सिंहनादरूप उपदेश को पाकर भी फिर दीनता क्यों ? वर्तमान में ही अपने सिंह स्वभाव को - अनंत शक्तियों के धाम को संभालो ! दीन विकल्प निराश्रय होकर टूटते जावेंगे, जड़ कर्म बिखरते जायेंगे, सुख-शांति का प्रत्यक्ष वेदन क्षणे-क्षणे बढ़ता जायेगा।

बंबई में नागरभाई आदि मुमुक्षुओं से भी मिलना हुआ था। आपका ज़िक्र भी आया था।

निरंतर अविच्छिन्न धाराए स्वरूपसुख में मग्न रहो। इससे च्युति करानेवाले विकल्प, विशेष विशेष मग्नता होते-होते, ढ़ीले पड़ते-पड़ते क्षय हो जायेंगे। ऐसा ही श्री गुरुदेव का अलौकिक उपदेश जयवंत वर्तो !

धर्मस्नेही
निहालचंद्र सोगानी

❁ तू ज्ञायक निष्क्रियतलके ऊपर दृष्टि स्थापित कर न ! पर्याय पर किसलिए जोर देता है।
❁ त्रिकाली ध्रुवदल जो नित्यानंद प्रभु है, उस पर जोर दे न !

- पूज्य गुरुदेवश्री

४१

कलकत्ता
१४-७-६३

ॐ
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी... शुद्धात्म सत्कार।

गत माह आपका पत्र आया था, तब मुझे बम्बईमें यहाँसे Redirect हो कर मिला था। इसके पहले क़रीब जनवरीमें पत्र आया था।

तत्त्वदृष्टिए, स्वभावबलमें जमते ही आना-जाना व न आना-जाना, जुदे ज्ञानमें सहज ही मोहभाव प्रतिभासित होते हैं; यह मोहभाव त्रिकालमें पौद्गलिक ही है, तो इनकी पकड़ क्यों ? यह हमारे हैं ही नहीं - ऐसा इनसे भिन्न अनुभव, मात्र हमारा लक्ष्य हो जाना चाहिए।

`भेदज्ञानसे भ्रम गयो, नहीं रही कुछ आश,
धर्मदास क्षुल्लक लिखे, अब तोड़ मोहकी पाश'

पूज्य श्री गुरुदेवके उपदेशका सार, द्वादशांगका सार तो केवल एक ही है कि `अपने त्रिकाली स्वभावमें जैसे-तैसे भी होवे दृष्टि पसारकर विराजमान हो जावो' ! क्षणे-क्षणे पदे-पदे वीतरागी ज्ञायकरसमें ऐसी मग्नता बढ़ती जायेगी जिसका विच्छेद एक क्षण भी नहीं गमेगा।

योग नहीं होनेसे, महाराज सा०का सोनगढ़ लौटनेका प्रोग्राम लम्बाजानेसे, बम्बईसे सोनगढ़ आनेका मेरा प्रोग्राम बदला गया। पुण्ययोग होनेपर, दशहरेके आसपास आनेका विकल्प है। आप सदैवानुसार पूज्य गुरुदेवश्रीकी अमृतवाणीका लाभ लेते होंगे। जिसका

तात्पर्य उनकी ओरसे दृष्टि उठवाकर, पलटवाकर, निज अमर्यादित अमृत-खानमें व्याप्त कराना है।

शेष मिलने पर।

सर्व संगसे असंग होनेका इच्छुक
निहालचंद्र

❁ मैं तो चिन्मय अखण्ड ज्योतिस्वरूप हूँ, पर्याय रूप नहीं।

❁ पर्याय द्रव्य का आश्रय करती है, लक्ष्य करती है इससे पर्याय शुद्ध होती है।

❁ ध्रुववस्तु स्वयं ध्रुववस्तु को नहीं जानती है परंतु पर्याय में ध्रुववस्तु जानने में आती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

४२

कलकत्ता
२१-८-१९६३

ॐ

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव को वंदन !

धर्मस्नेही.....शुद्धात्म सत्कार।

आपका पत्र आज मिला। परम उपकारी श्री गुरुदेव सुख-शांति में हैं व उनकी अमृतमयी धोधमार वाणी का आप लोग अपूर्व लाभ ले रहे हैं, जानकर सहज प्रसन्नता हुई।

आपका राजकोटवाला पत्र यथासमय मिल चुका था, बहुत उत्साह भरा था; परंतु मेरा पुण्य ऐसा कहाँ कि पूज्य गुरुदेव की वाणी का बारंबार लाभ होवे। आपके पत्रों में मेरे वहाँ आनेके लिये ही मुख्यतया तीव्र अनुरोध रहता है; आनेकी योग्यता नहीं होती तो क्या जवाब दूँ ? सोनगढ़ आनेका लक्ष्य रखकर बंबई तक आना हुआ, परंतु महाराजश्री के विहार से लौटने की तिथि में अकस्मात् बार-बार फेर पड़ा अतः वापस बंबई से ही लौटना पड़ा।

आपका लिखना कि ``सांसारिक विकल्प पण थाय छे, अने कार्य पण थाय छे, निवृत्ति इच्छनार ने मात्र सोनगढ़मां ही वास होय'' आदि - इसका क्या अपेक्षित जवाब देऊँ ? यहाँ तो पूज्य गुरुदेव ने आत्मगढ़ में वास कराकर प्रसाद चखाया है, अतः क्षणिक विकल्प भी सहज विस्मरण होते रहते हैं। कहता हूँ कि : हे विकल्पांश ! तेरे संग अनादि से दुःख अनुभव करता आया हूँ, अब तो पीछा छोड़। यदि कुछ काल रहना ही चाहता है तो सर्वस्व देनेवाले परम उपकारी श्री गुरुदेव की भक्ति-सेवा-गुणानुवाद में ही उनके निकट ही वर्त ! इस क्षेत्र में तो अधिक दुःखदायी है। चूँकि

गुरुदेव ने इसकी उपेक्षा कराकर इससे विमुख करवा दिया, अतः यह भी लंबाकर साथ नहीं देता।

``जैसो शिवखेत बसै, तैसो ब्रह्म यहाँ बसे,
यहाँ-वहाँ फेर नाहीं, देखिये विचारके।''

मेरे प्रति आपका अनुराग ज्ञान में है। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि तुम स्वयं अक्रिय चैतन्य ढीम हो, इस अगाध सागर का सहज अनुराग करो। पराश्रित अनुराग तो एकांते दुःख है। सुखाभासी होकर इसके रस को लंबाना उचित नहीं। अपने तो एकांत सहज ज्ञान-सुख से लबालब व ठसाठस चैतन्य ढीम बनकर जमे रहो। विकल्प व निर्विकल्प जैसी भी अवस्था होवे, होने दो।

``करता करम क्रिया भेद नहीं भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है,।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहिं लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनंत सुख भरै है।।''

वहाँ ठहरने-ठहराने के विकल्पजाल को लंबाने से क्या लाभ? विकल्पानुसार क्रिया होना आवश्यक तो नहीं। जैसा योग है, हो जायेगा। चिंता तो ओछी ही अच्छी है। निकट भविष्य में वहाँ आनेका विचार अवश्य है। परंतु सदैव की टेव अनुसार प्रोग्राम अकस्मात ही बनता है अतः समय लिखने के अयोग्य हूँ।

विकल्परस में अनुभवरस का अभाव है। एक की ओर झुककर लंबाने से दूसरे का अभाव होता है।

``गुण अनंत के रस सबै, अनुभौ रसके माहिं।
यातैं अनुभौ सारिखो, और दूसरो नाहिं।।''

विशेष मिलने पर।

असंगताका इच्छुक

४३

कलकत्ता

१०-९-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....

आपका कई दिनों पहले पत्र आया था। श्री 'पञ्चाध्यायी' की दर्शन-ज्ञान विषय की गाथाओं का ज़िक्र था। पुस्तक का यहाँ सहज योग नहीं हो सका। सोनगढ़ में अपेक्षावत् इस विषय की समाधान चर्चा हुई है, ऐसा स्मृति में है। आपको वहाँ से समाधान हो सकेगा, जानने पर ख़ुलासा लिखें। चैतन्यप्रतिमा व चेतनपरिणति के स्वतंत्र-स्वतंत्र अस्तित्व की यथार्थ कबूलात कर चैतन्यप्रतिमा में अपना स्थापन करते ही परिणति प्रतिमा का आलिंगन करने लगती है, जो इष्ट है।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र

❁ सच्चा मुमुक्षु स्वच्छंद सेवन नहीं करता।... मुमुक्षुका हृदय द्रवित होता है वैराग्यमय होता है।

❁ समस्त प्रकारकी विपरीतता छूटने पर ही सम्यग्दर्शन होगा।

- पूज्य गुरुदेवश्री

४४

कलकत्ता
१०-९-१९६३

ॐ

अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः।।

आत्मार्थी.....

पत्र आपका ता. ३-९ का मिला। पहलेवाला पत्र भी यथासमय मिल गया था। दशलक्षणी पर्व, आपने तीन लोक में परम उत्तम, निर्भय बनानेवाले, परम निर्भय, सिंहस्वरूप श्री गुरुदेव के सान्निध्य में मनायें होंगे। वह कहते हैं - ``स्वभावअंश में किंचित् भी दोष नहीं है, नित्य स्वभाव में दृष्टि थंभ जानेसे, उत्पन्न हुए सहज स्वभाव में, क्षमा आदि दूषित भाव प्रत्यक्ष पराश्रित (जड़ के) पर के हैं; अतः सहज क्षमाभाव त्रिकाल जयवंत वर्तो ! हमने कभी दोष किया ही नहीं, ऐसा स्वभाव निरंतर वृद्धि पामो। विभाव की गूँज में गूँजता हुआ अज्ञान भाव सहज नाश पामो। विभाव में तनीजो नहीं। स्वभाव-सीमा में निरंतर अडिग जमे रहो। क्षणिक विभाव वेदीजता हुआ अधिक की सीमा को पार नहीं कर सकता, अतः वहीं लय हो जाता है।''

``करता करम क्रिया भेद नहीं भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहिं लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनंत सुख भरे है।।''

ज्ञान कणिका पत्र द्वारा मँगवाई सो यह तो आपके पास ही है। स्वअवलंबन से सहज ही विभाव से पृथक् होकर प्रगटती रहती

है। हे शशीभाई ! अनेकानेक जीवों की योग्यता अक्षय सुख के उदय की है, अतः तीर्थंकर से भी अधिक सत्पुरुष का योग प्राप्त हुआ है, जिनकी नित्य प्रेरणा उधर से विमुख कराकर स्वयं के नित्य भंडार की ओर लक्ष्य कराती रहती है; यहाँ से ही पूज्य गुरुदेव के न्याय अनुभवसिद्ध होकर दृढ़ता प्राप्त कराते हैं।....

``जिन (निज) सुमरो जिन चिंतवो, जिन ध्यावो सुमनेन।
जिन ध्यायंतहि परमपद, लहिये एक क्षणेन।।।''

वात्सल्यानुरागी
निहालचंद्र

- ❁ पर्याय अंतरमें ढ़लकर दृष्टिमें द्रव्यको पकड़े तभी क्रमबद्ध, योग्यता आदिका सच्चा ज्ञान होता है।
- ❁ परम शुद्धनिश्चयनयसे मुक्ति व संसारमें कोई अंतर नहीं है।
- ❁ कोई भी पर्याय आश्रय करने योग्य नहीं है।
- ❁ क्रमबद्धता तो सर्वज्ञताका प्राण है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

४५

कलकत्ता

२६-६-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी....शुद्धात्म सत्कार।

आप लोगों को तत्त्व की स्वयंकी रुचि बढ़ रही है, अतः तत्त्वचर्चा में प्रमोद होता है। जो पत्र में लिखा है। अब तो सुनने-सुनाने में भी थकान मालूम होने लगे, ऐसी परिणति जागृत होनी चाहिए। सो नित्य सुखधाम स्वक्षेत्र में अडिग जमते ही उत्पन्न एकान्त सहज सुख में प्रत्यक्ष अनुभव होगा। कुछ करना-कराना नहीं है, मात्र स्व अस्तित्व में दृष्टि पसारकर एकान्ते थम्भ जाना है। ध्रुव ज्ञानानन्दमूर्ति अनन्त गुणों की खान हूँ। परिणमन क्रियाएँ सहज हो रही हैं। प्रतिसमय नित्य व क्षणिक दोनों भावों का एक ही समय सहज अनुभव वर्तता रहे, ऐसा परम उपकारी श्री गुरुदेव का वाच्य है; सो अभ्यास वर्तो। मात्र क्षणिक वेदन ही नहीं प्रतिभासो।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र

❁ वीतरागमूर्तमेंसे ही वीतरागता छलकती है।

❁ जो वस्तु प्रत्यक्ष है, प्रकट है, विद्यमान है, जिसका अस्तित्व पर्यायमें नहीं, ध्रुवमें है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

४६

कलकत्ता

२७-९-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....शुद्धात्म सत्कार।

श्री लालचन्दभाई की परिणति में मुख्यतया अध्यात्ममन्थन चलता है। अभी बम्बई में आए भाईयों के पत्र में भी पूर्व अवसर के उनके वहाँ के वांचन में ऐसी परिणति का जिक्र आया है। अतः चित्त प्रसन्न होता है। उन्हें, डॉ. चन्दुभाई व अन्य सब मिलनेवाले साधर्मी भाईयों से मेरा धर्मस्नेह कहना।

यही भावना है कि परम उपकारी श्री गुरुदेव की छत्रछाया में हम सब मुमुक्षु अपने नित्य स्वक्षेत्र में अडिग जमे रहें। जिस (स्वधाम) की अपेक्षा परिणाम मात्र केवलज्ञानादि परतत्त्व हैं। ऐसा होते ही नित्य व क्षणिक दोनों भावों का अनुभव प्रतिसमय एक ही काल होता रहेगा, जो कि गुरुदेव का अभिप्राय है।

``करता करम क्रिया भेद नहीं भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहिं लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनन्त सुख भरै है।।''

धर्मस्नेही

निहालचंद्र

४७

ॐ

कलकत्ता
१७-१०-१९६३

चैतन्यमूर्ति श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी....शुद्धात्म सत्कार।

पत्र आपके समय-समय पर तीन मिले। अब मेरा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है। करीब १ माह पलंग पर रहना हुआ। चिन्ता अथवा राग तो स्वयं को हानिकारक है। स्व में अथवा पर में अकार्यकारी है। अतः हर समय स्वभाव-बल से सहज निषेधपूर्वक होवे तो (भी विकल्प का) फल आदरणीय नहीं हो सकता।...

इन दिनों साधर्मी भाईयों का पत्र व्यवहार कुछ बढ़ा है। परन्तु सहज विकल्प निमित्ते जवाब लिखीज जावे वह ही अच्छा है। अतः जवाब देरी आदि की प्रतीक्षा अधिक नहीं रखना ही अच्छा है।

आशा है परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव सुख-शान्ति में विराजते होंगे। इस माह के गुजराती `आत्मधर्म' में अनुभव रस की भीगी हुई वाणी व प्रसन्न मुद्रा देखकर चित्त डोल उठा। आपने फ़रमाया है :-

``अमारो के. (केवल) ज्ञाननो ध्वज फरकी रह्यो छे। केवल ज्ञाननो झण्डो फरकावता-फरकावता अल्प काले मोक्षमां जशुं।'' इन वचनों को बारम्बार रस लेकर भी वृत्ति तृप्त नहीं हुई।

अधिक क्या लिखूँ ? पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि ``ज्ञानीने रागादि भावो पोताना स्वभावपणे ज़रा पण भासता नथी, स्वरूपनी बाहर ज भासे छे'' - यही वेदन हम सब को दृढ़तर होता जावे, यह ही भावना।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र सोगानी

४८

कलकत्ता

२३-१२-१९६३

आत्मोन्मुखी....शुद्धात्म सत्कार।

यहाँ पहुँचने पर आपका आया हुआ पत्र देखा। भगवान श्री जयसेन आचार्य की गाथा ३३८-३९ की टीकामें से `अपरिणामी' सम्बन्धित लाईनें आपने अद्धृत कर लिखी, उन्हें बांचकर बहुत ही प्रमोद हुआ।

सांख्यानुसारी शिष्य, अभिप्राय में निश्चय-व्यवहारमयी आखे प्रमाणरूप अनेकान्तस्वरूप द्रव्य को एकान्ते अपरिणामी समझकर, जैनागम में भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव को अपरिणामी कहा गया है, ऐसा कहता है - जिसका समाधान आचार्यदेव ने किया है : ``परन्तु व्यवहारनय से परिणामी है,'' ``शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से अपरिणामी है''। इस बात को रखकर, व्यवहारअंग नहीं समझनेवाले शिष्य को `परन्तु' शब्द मूककर परिणमनरूप व्यवहार भी बताया है।

`निष्क्रिय' भाव व शब्द के लिये आपने आचार्यश्री की गाथा-३२० की टीका वहाँ बताई थी व पूज्य गुरुदेवश्री के मुखारविन्द से सोनगढ़ में भी रात्रि चर्चा समय इसका स्पष्टीकरण हुआ था।

इस प्रकार निष्क्रिय व अपरिणामी, त्रिकाली-सदृश्य परम शुद्धनय का विषय - दृष्टि का विषय - द्रव्य मैं हूँ, इसका आगम आधार तपासकर आपने बताया, इससे बहुत आनन्द हुआ।

श्री योगीन्द्रदेव के `परमात्मप्रकाश' श्लोक नं. ६८ पर श्री ब्रह्मदेव की टीका, पं. दौलतरामजी के अनुनाद सहित, को शीघ्र देखूँगा। साथ ही श्री जयसेन आचार्य की `टीका-प्रति' यदि यहाँ मिल गई

तो उक्त गाथा सहित पूरी देखने का विचार है। जो कि पहले मेरी देखी हुई नहीं है।

अत्रुटक भावे सहजानन्द में मग्न रहो, यह ही भावना है।

मोक्षेच्छुक
निहालचंद्र

❁ तू अभी ही, और जब देखो तभी `सिद्ध समान ही है'।

❁ उपयोगको चारों ओरसे सिमटा कर एक आत्मामें ही मग्न हो !

❁ एक बार स्वभावके प्रति उत्साह ला !

❁ स्वभावकी महिमा लाकर अपनी शक्तिको उछाल !

❁ जिसे ज्ञानस्वरूपका ज्ञान है, वही ज्ञानी है।

❁ अनंतके नाथ (निजात्मा)को नहीं जाना इसीलिये अनंत भव करने पड़े हैं।

❁ चैतन्यस्वभाव सुखसे लबालब है, उसका विश्वास कर !

❁ अनेकांत भी सम्यक् एकांतकी अपेक्षा रखता है।

❁ तत्त्वज्ञानका मूल सर्वज्ञ है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

४९

कलकत्ता

२७-१२-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....शुद्धात्म सत्कार।

आपका पत्र यथा समय पर मिला था। कई प्रकार के प्रश्न लिखे, जिन सम्बन्धित योग्यतानुसार संक्षिप्त खुलासा लिखता हूँ :

१. स्वद्रव्य से, पर से अथवा क्षणिक योग्यता से ज्ञान* -

सर्व समाधानों का भण्डार त्रिकाली चैतन्यद्रव्य वर्तमान में ही हूँ; इस में दृष्टि अभेद होते ही, प्रश्नरूप विकल्प की, विकल्पांश से जुदी स्वआश्रित सहज जानन क्रिया होती है, वह क्रिया स्वयं ही समाधान रूप है। जिस में प्रश्न लम्बाने का अभिप्राय नहीं रहता।

यथार्थ उक्त दृष्टि पश्चात् योग्यता का वास्तविक भाव समझ में आता है। योग्यता स्वयं सत् अहेतुक है; जिसको निश्चये न स्व द्रव्य कारण है न पर। यह अपरिणामी द्रव्यदृष्टि समय-समय की योग्यता में फेरफार की बुद्धि नहीं रखती व योग्यता भी दृष्टि के अभेद विषय की ओर समये-समये वृद्धिगत उन्मुख होते-होते पूर्ण समाधानरूप अभेद हो जायेगी, ऐसी निःशंक प्रतीति इस दृष्टि में गर्भित है।

मुनिराज, आचार्य भगवान के पास समाधान हेतु जाते हैं; उस समय भी प्रश्न-विकल्प से छिटकी हुई जानन क्रिया उनको वर्तती रहती है। परन्तु कचासरूप अशक्ति के कारण प्रश्न-विकल्प क्षणिक

*इस विषय के स्पष्टीकरण में अध्यात्म व द्रव्यनुयोग संबंधित ग्यारह सिद्धांत समाहित हैं।

लम्बाने से प्रश्न-क्रिया होती है। समाधान बाह्य से होगा ही अथवा होना ही चाहिए, ऐसा अभिप्राय मुनिश्री के प्रश्न-विकल्प समय नहीं वर्तता।

इस विषय के स्पष्टीकरण में अध्यात्म व द्रव्यानुयोग संबंधित ग्यारह सिद्धांत समाहित हैं।

२. श्रद्धा व ज्ञान -

श्रद्धा व ज्ञान भिन्न-भिन्न गुण की स्वतन्त्र एक ही काले अहेतुक पर्यायें हैं। मृतक वेश्या का चित्र दृष्टान्तरूपे पुस्तकों में है। भिन्न-भिन्न श्रद्धावाले चार जीवों को ज्ञान में निमित्तरूप तो एक ही विषय है। परंतु श्रद्धान भिन्न-भिन्न प्रकार का होनेसे भिन्न-भिन्न परिणति है। निश्चय से एक ही जीव को एक ही काले श्रद्धा व ज्ञान की स्वतन्त्र अहेतुक परिणति होती है जो कि एक दूसरे को अकारणीय है। कार्य होनेपर ज्ञान श्रद्धान का कारण हुआ अथवा श्रद्धान ज्ञान का कारण हुआ, ऐसा सम्बन्ध बताया जाता है। ग्यारह अंगधारी मिथ्यादृष्टि धारणाज्ञान में तत्त्व को परोक्षरूपे यथार्थ जानता है परन्तु श्रद्धा की पर्याय में, रुचि में, उसको अभेद पकड़कर प्रत्यक्ष नहीं करता अतः दृष्टि मिथ्या बनी रहती है।

३. पुरुषार्थ -

`स्वरूपनीप्यास.' प्यास स्वयं पर्याय-स्वभाव है। वीर्य गुण की पर्याय में सदैव पुरुषार्थ होता रहता है। नित्य, सहज, निष्क्रिय, त्रिकाली द्रव्य में दृष्टि अभेद होनेपर जो पुरुषार्थ होता रहता है, वह स्वआश्रित सहज ज्ञानानान्दी पुरुषार्थरूप पर्यायस्वभाव है। विकल्पात्मक पुरुषार्थ, असहज, कृत्रिम पुरुषार्थ है। सहज द्रव्यस्वभाव की अरुचि होनेसे पर्याय में सहज पुरुषार्थ नहीं उघड़ता; अतः मिथ्यादृष्टि नियतवादी एकान्ते कृत्रिम पुरुषार्थ करता रहता है। इस

ही कारण `थवानुं हशे तेम थशे' इस आशय को कहने का वह यथार्थ अधिकारी नहीं है। उसके अभिप्राय में फेरफार की बुद्धि तो पड़ी रहती है। उसकी स्वतन्त्र योग्यता निरन्तर परावलम्बी वर्तती है व उसे उसमें उत्साह बढ़ता रहता है। यह बात स्वद्रव्य-अवलम्बन करनेवाला ज्ञानी यथार्थ जानता है।

४. (मिथ्यादृष्टि) संसारी जीव स्वरुचि अनुसार अपनी रसपूर्ति के हेतु अमुक पर को जानता है; अतः इष्ट प्राप्ति में बाधक कारणों से द्वेष करता है। इसका कारण मात्र परावलम्बी रुची ही है, अन्य नहीं।

हम सब नित्य स्व का संगरूप वर्तन करें, यह ही भावना है।

निहालचंद्र

ॐ

नित्य शुद्ध सुख-सागर के रस-प्रति वृत्ति द्वारा आस्वादन करते रहना ही हर आत्मा के लिये परम कार्य है; अन्य सर्व अकार्य हैं। जैसे भी होवे परसन्मुख रस शिथिल (क्षय) करो ! स्वसन्मुख आनंद में निरंतर लीनता यह स्थिति पूर्णपणे प्रगट कर देगी। निकट आत्मार्थी को इस हेतु बिना अन्य लक्ष्य किंचित् भी नहीं होता; वरना संसार-प्रति के दुःखों से किंचित् भी हटना नहीं हो सकता।

पूज्य श्री सोगानीजी

५०

कलकत्ता
२-१-१९६४

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी...शुद्धात्म सत्कार।

आपका ता. १८-१२-६३ का पत्र यथासमय मिला था। मैं यहाँ १७-१२ को वापस पहुँचा था। मार्गमें अधिक रुकनेसे दिल्ली नहीं ठहर सका था।

नित्य शुद्धात्मस्वभावमें दृष्टि अभेदकर, तादात्म्यकर, निर्विकल्पकर, सहज अहम्पनेसे स्वमूर्तिकी स्थापना करो ! देह, मन, वाणी, राग व क्षायिक-क्षणिक भावसे भी पार, सूक्ष्म, अति सूक्ष्म सामान्य द्रव्यमयी गठरीरूप होकर जमे रहो ! इस नित्यबलकी अधिकायीसे क्षणिक परिणाममें खिसको नहीं ! ज्ञान रागसे सहज पृथक् होकर, क्षणे-क्षणे वृद्धिगत होते-होते पूर्ण उघड़ जायेगा। - ऐसे पूज्य गुरुदेवश्रीके आशयको यथार्थ परिणमित कर देना हम सर्व मुमुक्षुओंका सदा सुखानुभवी कर्तव्य है।

महाआनंदका नित्य भोगवटा रहे, यही भावना है।

मोक्षेच्छु निहालचंद्र

`मैं ही परमात्मा हूँ', यह नक्की कर !
`मैं ही परमात्मा हूँ', ऐसा निर्णय कर !
`मैं ही परमात्मा हूँ' ऐसा अनुभव कर !

- पूज्य गुरुदेवश्री

५१

कलकत्ता
२०-२-१९६४

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी...शुद्धात्म सत्कार।

पत्र मिला। परम कृपालु गुरुदेवश्रीके मुखारविंदसे मुझ संबंधी निकले सहज उद्गार आपको अमुक-अमुक स्थानोंके भाईयोंसे ज्ञात हुए सो आप सबने स्वाभाविक प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक मुझे लिखे, सो जाने।

मुक्तिनाथकी इस दास प्रत्ये सहज कृपादृष्टि इस बातका द्योतक है कि अति उमंगभरी मुक्तिसुंदरी अप्रतिहतभावे, मुझ कृतकृत्यके साथ, महा आनंदमयी अस्खलित, परमगाढ आलिंगनयुक्त रहकर शीघ्रातिशीघ्र कृतकृत्य होना चाहती है।

परम पिताश्रीने हम सब पुत्र मण्डलको अटूट लक्ष्मीभण्डार (दृष्टिरूपी चाबी द्वारा खोलकर) भोग हेतु प्रदान किया है, इसे नित्य भोगो, नित्य भोगो, यह ही भावना है।

तीर्थंकरयोग सूचित करता है कि सब सज्जन पुत्रगण इस भोगको निःसंदेह भोगते हुए नित्य अमर रहेंगे।

``स्थानो न क्षायिकभावनां, के क्षायोपशमिक तणां नहीं,
स्थानो न उपशमभावनां, के उदयभाव तणां नहीं.''

``गुण अनंतके रस सबै, अनुभौ रसके माहिं,
यातैं अनुभौ सारिखौ, और दूसरो नाहिं.''

पृथक्-पृथक् पत्रोंकी पहुँच संभव नहीं, अतः सहज मिलनेपर

आप उन भाईयोंको मेरा यथायोग्य स्नेह बोल देवें...। सर्व भाईयोंके नित्य आनंदका निरीच्छकपने इच्छुक।

मात्र मोक्ष अभिलाषी
निहालचंद्र सोगानी

❁ आत्म वस्तु जो ज्ञानानंद सहजानंद प्रभु है, उसका जिसे ज्ञान हुआ उसे आत्मा भासित होती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री

ॐ

श्री परमात्मने नमः

द्रव्यदृष्टि प्रकाश

(द्वितीय खण्ड)

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री परमात्मप्रकाश-गाथा ४३ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

(आसो वद १० बुधवार, दिनांक - २०-१०-१९६५)

यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे, भगवान आत्मा - कारण शुद्ध ध्रुव प्रभुको - अवस्थाका उत्पाद-व्यय होना अर्थात् पूर्व अवस्थाका अभाव सो व्यय और नई अवस्थाका होना सो उत्पाद है; तो भी पर्यायका परिणमन द्रव्यमें नहीं है। परसे तो भिन्न ही है लेकिन पर्याय भी (ध्रुव) वस्तुमें नहीं है। वस्तुमें कर्म नहीं है, शरीर नहीं है, पुण्य-पापका भाव नहीं है, उत्पादव्ययरूप पर्याय वस्तुमें नहीं है।

सुवर्णके ज़ेवरमें, सुवर्णमेंसे कड़ाकी अवस्था हुई, पीछे कुण्डलादि हुआ इसमें सुवर्ण उत्पाद-व्ययसे रहित है। - ऐसे आत्मद्रव्यमें परिणमन नहीं है, सो कहते हैं :

आत्मा एकीला (अकेला) ध्रुव पिण्ड है, उसमें राग, विकल्प, उत्पाद, व्यय नहीं है। इसलिये राग, विकल्प, पर्यायपरका लक्ष छोड़ दे ! वस्तु, उत्पाद-व्यय परिणमन बिना की है। पर्यायार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय रहित है। वस्तु अनादि-अनंत है, है और है। उसमें

अवस्थाका होना और नाश होना, सो अंतरमें नहीं है - ध्रुवमें नहीं है। यह किसके घरकी बात है? यह द्रव्य है, चिद्घन है। आत्मा एकीला चिद्घन है, ध्रुव है, ध्रुव है, प्रत्यक्ष है, नित्य है, एकरूप है, जिसको भाव-अभाव नहीं। भाव अर्थात् पर्यायका उत्पन्न होना और अभाव अर्थात् पर्यायका अभाव होना, सो वस्तुके भीतरमें नहीं है।

देखो, वस्तुके स्वभावकी अचिंत्यता, अपरिमितता, बेहदता! स्वभावका सामर्थ्य पूर्ण ध्रुव है। ध्रुववस्तुमें पर्यायका उत्पादव्ययरूप परिणमन नहीं है। द्रव्य सदा ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, वस्तु...वस्तु...वस्तु सदा नित्य...नित्य...नित्य है - ऐसा अंतर ध्रुव भगवान आत्मामें वीतरागी शांति द्वारा, निर्विकल्प शांति द्वारा, उसके बल द्वारा - देखो; रागके बल द्वारा नहीं, निमित्तके बल द्वारा नहीं, शरीरके बल द्वारा नहीं, शरीरका संघयणका बल था इसलिए हुआ - ऐसा भी नहीं; सो परमात्माको - निजस्वरूप ध्रुव...ध्रुव चिद्घनको निर्विकल्प शांति द्वारा, अंदरमें वीतरागी शांत समाधि द्वारा, उसके बलसे; श्री तीर्थंकरदेवने, ऐसे ध्रुवस्वरूपको - देहमें रहा हुआ सो निमित्तसे कहा; इसमें यह भगवान ऐसा है, ऐसा - अंतरमें देख लिया है।

भावाभावहिं संजुवउ भावाभावहिं सो जि।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिं मुणि परमप्पउ सो जि।।४३।।

अहा...हा...हा...हा...! यह परमात्म प्रकाश है न! आत्मा देहमें रहा है, सो असद्भूत उपचरित व्यवहार। असद्भूत पर्याय सो व्यवहार। द्रव्यार्थिकनय सो निश्चय। इसमें पर्याय है सो व्यवहार। व्यवहार है ही नहीं, ऐसा कौन कहता है? ऐसे

रागादि हैं ही नहीं, ऐसा किसने कहा? यह व्यवहार और रागके सहारे निश्चय है, ऐसा नहीं है। पर्याय-व्यवहारके सहारे द्रव्य है, ऐसा नहीं।

अहा...हा...हा...! यह अनादि - अनंत पदार्थ है कि नहीं? अंदरमें पुण्य और पाप, आये और गये। भगवान आत्मा अनादि-अनंत ध्रुव पदार्थ है कि नहीं ? यह आत्माकी वर्तमान दशामें, हालतमें, उत्पाद-व्ययका होना सो व्यवहार है। इसलिए एक न्यायसे उसको अभूतार्थ कहा है। तो भी आश्रय लेनेवाली पर्याय है। और पर्याय है सो व्यवहार है। और व्यवहारसे निश्चय प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है।

प्रश्न :- निश्चयका आश्रय तो व्यवहारने (-पर्यायने) किया ने ?

उत्तर :- पर्यायने आश्रय किया, तो किसका किया ? - द्रव्यका किया। पर्यायने विषय किया है अर्थात् भूतार्थ द्रव्य इसका विषय है। पर्यायके आश्रयसे भूतार्थ विषय नहीं होता है। यह सूक्ष्म बात है।

एकदम आत्मा ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, अपरिणामी - निहालभाई कलकत्तावाले कहते थे - ऐसा है। लोगोंको माननेमें नहीं आता था, लोगोंको ख़बर नहीं। निहालभाई अजमेरके (रईस) थे। वस्तु एकीला ध्रुव है, अपरिणामी है। द्रव्य, वस्तु अपरिणामी है। पर्याय परिणमती है। द्रव्य, वस्तुको परिणमन कैसा?

यद्यपि उत्पाद और व्ययकर सहित है अर्थात् `परिणतः' शब्द संस्कृतमें पड़ा है। भाई ! यह तो बादशाहका घर है। साधारण बादशाहके यहाँ भी ठीक होकर जानेका होता है;

तो फिर यह तो परमात्मा खुद, तीनलोकका नाथ आत्मा खुद है। एकीला ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव है। पर्याय भले ही परिणमनमें हो। लेकिन ध्रुवमें पर्याय नहीं है।

यह परमात्म प्रकाश है ! एक समयकी पर्याय परमात्मा नहीं, यहाँ तो द्रव्य परमात्मा है। यह भाव-अभावसे रहित है। उत्पाद-व्यय सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय रहित है। यह आत्मा ध्रुव...ध्रुव एकरूप चिदानन्द है, परिणमन रहित है, एकीला वीर्य पिण्ड प्रभु है। आत्मा एकीला चैतन्य दलरूप है। पूर है, जिसमेंसे अनंत केवलज्ञान चला आवे। आत्मा अर्थात् एकीला आनंद जो ध्रुव है वह परिणमन रहित है।

द्रव्यार्थिकनय अर्थात् जिसका प्रयोजन एकीला ध्रुवको जाननेका है। जो ज्ञानका पर्याय ध्रुवको जानना चाहता है, यह ध्रुवमें परिणमन नहीं है। यह आत्मा अनंतगुणका पिण्ड पड़ा है। निर्मल पर्याय, क्षायिक सम्यक्त्वकी पर्याय, यथाख्यातचारित्रकी पर्याय भी वस्तुमें कहाँ है ? संसारपर्यायका व्यय और कैवल्यका उत्पाद - दोनों ध्रुवमें नहीं है। यह अनादि-अनंत भगवान अंतर ध्रुव वस्तुको जिनवरने देहमें रहनेपर भी जान लिया है, ध्रुवको देख लिया है, पूरे द्रव्यको एक समयमें देख लिया है - ऐसा कहते हैं।

यह द्रव्यकी दृष्टि हुई कि द्रव्य सिद्धअवस्थारूप, केवलज्ञानरूप परिणमता है। सिद्धस्वरूपका पिण्ड ही आत्मा है। पर्यायमें सिद्ध होता है, अर्थात् वस्तुतासे सिद्धस्वरूप ही आत्मा है। द्रव्य तो ध्रुव...ध्रुव अनादि-अनंत सिद्ध है, परमात्म स्वरूप है, उसमें अनंत परमात्मा विराजते हैं। वस्तु पूरा वीतराग पिण्ड

है, उसको भगवान परमात्मा अरिहंत तीर्थंकरदेवने देख लिया कि यह द्रव्य, यह वस्तु, उत्पाद-व्यय रहित है। जाननेवाली भले ही पर्याय, लेकिन जानी हुई वस्तु ध्रुव; उसको वीतराग निर्विकल्प आनंदरूप समाधि द्वारा तद्भव मोक्षके साधक ऐसे जिनवरदेवने देहमें भी जान लिया है। ऐसा नहीं कि मोक्ष होगा तभी जानेंगे। यहाँ ने यहाँ जान लिया है कि यह ध्रुव है। ऐसा जान लिया है।

भाई ! जिसमें परिणाम नहीं है। अहा...हा...हा...हा...! ग़ज़ब बात है ! द्रव्य परमात्मा ऐसा का ऐसा त्रिकाल पिण्ड है, ऐसा वीतराग समाधिके बलसे अनुभवकर - ऐसा शिष्यको भी कहते हैं कि अनुभव कर !

श्री परमात्मप्रकाश-गाथा ६५ पर
पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

(सं. २०२२, कारतक वद १, दि. १०-११-१९६५)

बन्धु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेई।
अप्पा किंपि कि कुणइ णवि णिच्छउ एऊँ भणेइ।।६५।।

भगवान तीर्थंकरदेव, सर्वज्ञदेव, परमात्मा ऐसा कहते हैं - यह वस्तु है जो आत्मा, सो आत्मा, सो ध्रुव, चैतन्य, आनन्दकन्द, ज्ञायकमूर्ति, अनन्तगुण का ध्रुवस्वभाव आत्मा है। आत्मा वस्तु जो है सो ध्रुव, बिना आदि-अन्त का, अकृत्रिम, सामान्य ध्रुवतत्त्व है। आत्मा क्या है? उसकी जीव ने अनन्तकाल में दृष्टि नहीं की।

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव, जिसने एक समय में, सूक्ष्मकाल में तीनकाल-तीनलोक प्रत्यक्ष देखा और जाना - ऐसा अरिहंत भगवान, जिसने एक समय में, केवलज्ञान-केवलदर्शन की दशा द्वारा तीनकाल, तीनलोक देखा-जाना; वो भगवान की वाणी में ऐसा आया कि भैया ! निश्चय से अर्थात् सत्य दृष्टि से देखा जाय तो वस्तु भगवान आत्मा, सत्, शाश्वत, ध्रुवपदार्थ है, जिसमें बेहद ज्ञान-दर्शन-आनन्द ऐसी शक्तियों का सत्त्वरूप आत्मतत्त्व है। सो वस्तुतत्त्व पर को ग्रहे या छोड़े सो वस्तु में नहीं।

वस्तु, खुद शाश्वत आनन्द, अनादि-अनन्त, ध्रुव, चैतन्य की

मूर्ति, अनन्तगुण का सामान्य ध्रुव एकरूप-ऐसा निश्चय आत्मा, ऐसा सत् भगवान पर को ग्रहे या छोड़े, सो वस्तु के स्वरूप में नहीं है। भगवान क्या कहते हैं ? सो जीव ने कभी वास्तविक तत्त्व को सुना ही नहीं। परमात्मा तीर्थंकर जिनवर देव ने ऐसा कहा है - अनन्तकाल से यह वस्तु जो है खुद पदार्थ, स्वयं अनन्त आनन्दरूप है। नव तत्त्व में आत्मा है सो ध्रुव, ज्ञायक, आनन्दकन्द, सत् चिदानन्द, शुद्धस्वरूप जैसा पर्याय में भगवान का है, ऐसा यह आत्मवस्तु का स्वरूप है। सो वस्तु खुद पर को बन्धन करे या छोड़े सो वस्तु के स्वरूप में नहीं।

सो वस्तु अखण्ड, आनन्द, ज्ञायकमूर्ति, सत्चिद्, अनादि-अनन्त, अकृत्रिम सत्त्व, आत्मवस्तु खुद एक समय की अवस्था में नहीं आती। पर्याय जो है उसमें - अवस्था में - हालत में, वस्तु की अन्तरसन्मुख की दृष्टि बिना, परसन्मुख की दृष्टि से, एक अंश के लक्ष से, उत्पन्न हुआ मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव उसको कर्म कहने में आता है, यह भावकर्म है। और उसके निमित्त से बन्ध हुआ रजकण-जड़-ज्ञानावरणादि आठ कर्म, ये जड़ कर्म हैं। वे भावकर्म हैं और ये जड़कर्म हैं। वस्तु खुद परमस्वरूप, परमात्मा स्वयं है। यह परमात्म प्रकाश है। यह बात अब की है भैया ! यदि तू परमात्मा पूर्ण न हो तो पर्याय में परमात्मा कहाँ से होगा ? छोटी पीपर के प्रत्येक दाने में पूर्ण चरपराई भरी न हो तो घिसनेपर बाहर आवेगी कहाँ से ? क्या चरपराई बाहर से आती है ? भीतर में शक्तिरूप पड़ी है सो प्रगट होती है। ऐसे भगवान आत्मा,

अरिहन्त और सिद्ध की अवस्थारूप, पर्यायरूप, केवलज्ञान, केवलदर्शन, पूर्ण आनन्दरूप 'परमात्मा' पर्याय में होता है, सो पर्याय कहाँ से होती है ? क्या बाहर से आती है ? आप खुद परमात्मा अनन्तगुण की खान-निधान वस्तु है। द्रव्य ऐसा जो आत्मा, उसकी अन्तर दृष्टि नहीं करके, अनादि से बाह्यदृष्टि द्वारा, पूर्ण पदार्थ क्या है - वैसा दृष्टि में न लेनेपर, वर्तमान अंश को, राग को, विकल्प को, इन्द्रिय को लक्ष में लेकर वर्तमान पर्याय में विकार उत्पन्न करता है। सो कर्म के लिये हुए चतुरगति में भ्रमण करता है, बन्ध को प्राप्त होता है; कर्म के अभाव से मुक्त होता है; - ऐसे कर्म के सद्भाव से बंधन और कर्म के अभाव से मुक्ति है। वस्तु आत्मा तो त्रिकाल निर्विकल्पस्वरूप है। - यह सूक्ष्म बात है। आत्मतत्त्व अर्थात् भगवान सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने कहा ऐसा आत्मा, एक सेकन्ड भी अनन्तकाल में, दृष्टि में लिया नहीं। और सब विपरीत कर-कर परेशान हुआ, - ऐसा भगवान सर्वज्ञ कहते हैं।

भगवान सर्वज्ञ समवसरण में विराजते हैं तब इन्द्रादि की उपस्थिति में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, आदि को ऐसा कहते हैं। महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान में भगवान सीमन्धर परमात्मा मनुष्यदेह सहित विराजते हैं सो भगवान ऐसा फ़रमाते हैं : भो आत्मा ! चार गति का बन्धन और यह बन्धन का अभाव - ये दोनों वस्तु के स्वरूप में नहीं हैं। वर्तमान पर्याय नयी उत्पन्न होती है और व्यय होती है।

भावार्थ :- अनादिकाल से कर्म और आत्मा का सम्बन्ध

है। कर्म रजकण वस्तु है, सूक्ष्म धूलि जड़ है। आत्मा अरूपी चैतन्य आनन्दकन्द है। उसकी समीप में (एक क्षेत्रावगाह) आठ कर्म-ज्ञानावरणादि-सूक्ष्म धूलिरूप है; - उसका सम्बन्ध अयथार्थस्वरूप अर्थात् झूठी नय से - अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है।

ये अन्तर की बातें जीव ने सुनी नहीं। अनन्तबार नवमी ग्रैवेयक गया, लेकिन वास्तविक तत्त्व-चैतन्यभगवान का सम्यक्ज्ञान जीव ने एक सेकन्डमात्र भी किया नहीं, ऐसा सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं। बिना आत्मज्ञान सब किया, क्रियाकांड, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि बहुत शुभभाव हुआ, स्वर्ग में भी गया, लेकिन उससे जन्म-मरण का अन्त आया नहीं। धूलि का देव हुआ, धूलि का राजा हुआ, धूलि का (पैसावाला) सेठ हुआ, लेकिन भगवान आत्मा की श्रद्धा व ज्ञान जीव ने अनन्तकाल में किया नहीं। ऐसा जो भगवान आत्मा उसको अनादि से अयथार्थस्वरूप अर्थात् झूठी, अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से आठ कर्म का सम्बन्ध है। - इस प्रकार की बात ही अभी तो चलती नहीं। धर्म के नामपर हा-हो और धमाल होती है। कितने लोग तो व्यापार-धंधेमें से निवृत्ति नहीं पाते हैं और कितने धर्म के नामपर बाह्य क्रियाकांड में सन्तुष्ट हैं। वस्तु क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है ? उसका कैसा-कैसा सम्बन्ध है? कौन सम्बन्धसे परिभ्रमण है ? - कुछ पता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा का अन्तरस्वरूप बेहद ज्ञान और आनन्द का कन्द है। उसको अनादि से जड़ कर्म का सम्बन्ध झूठी नय से है; वास्तविक सम्बन्ध नहीं होने से झूठी नय से सम्बन्ध कहा। समीप है इसलिये सम्बन्ध;

निमित्त है इसलिये व्यवहार कहा। जड़कर्म का बन्ध अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से अर्थात् झूठी नय से है, ऐसा कहने में आता है। यह चैतन्य और वे जड़ - दोनों का सम्बन्ध झूठी नय से है; तो कुटुम्ब-परिवार का आत्मा से सम्बन्ध है ही नहीं।

दूसरी बात :- भगवान वस्तु, परमात्मस्वरूप, स्वयं द्रव्यस्वरूप, अखण्ड, ज्ञायकभाव-तत्त्व, उसको पुण्य-पाप-दया-दान-काम-भोगादि के भाव हैं, सो अशुद्ध निश्चयनय से हैं अर्थात् वर्तमानअंश में है। रजकण दूर है; उसकी जाति में और अंश में नहीं है - वस्तु जो ध्रुव त्रिकाल है, उसमें तो कर्म नहीं है लेकिन एक समय की अवस्था में भी कर्म नहीं है। वस्तु जो है अखण्ड, आनन्द, ज्ञायकमूर्ति, चिदानन्द, परमात्मा खुद, ऐसा जो भगवान आत्मा को वर्तमानअवस्था में सम्बन्ध है। कर्म तो दशा में नहीं थे इसलिये झूठी नय से सम्बन्ध कहा था। यहाँ तो वर्तमानदशा में सम्बन्ध है, इसलिये दशा में निश्चय है लेकिन अशुद्ध है। पुण्य, पाप, काम, क्रोध, दया, दानादि के विकल्प जो उठते हैं सो विकार है, राग है, सो एक अंश में है - इसलिये निश्चय कहा और अशुद्ध होने से अशुद्धनिश्चय से सम्बन्ध है - ऐसा कहा। यह तो `परमात्म प्रकाश' है। बहुत अलौकिक गाथा है।

रागादि भावकर्म अर्थात् पुण्य और पाप के जो विकल्प उठते हैं अर्थात् शुभ-अशुभभाव उठते हैं सो मलिन होने से भावकर्म कहने में आता है, सो उस पर्याय का भाव है, द्रव्य का नहीं। `द्रव्य', पर्याय बिनाका है। द्रव्य में पर्याय कहाँ है?

ध्रुव वस्तु है उसमें पर्याय कहाँ थी ? द्रव्य तो द्रव्य ही है।

भगवान आत्मा अनादि-अनन्त, अकृत्रिम वस्तु सत् है, अनन्तकाल का एक ही सत्त्व है सो वस्तु बेहद ज्ञान-दर्शन-आनन्द से भरा हुआ, सत्त्व का तत्त्व - ऐसा जो द्रव्य, उसकी वर्तमान एक समय की अवस्था में पर का सम्बन्ध कहना सो ध्रुव के लिये असद्भूत अर्थात् झूठी नय से है। और ऐसा अखण्ड पूर्ण द्रव्य होनेपर भी, उसके एक अंश में पुण्य, पाप, राग, द्वेष; और यह पुण्य और पुण्य के फल ठीक है - ऐसा जो मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव; सो पर्याय के एक अंश में है। अंश में है, इसलिये निश्चय कहा और मलिन होने से अशुद्ध कहा। भगवान आत्मा एक सेकन्ड के असंख्य भाग में पूरण, ध्रुव, आनन्दकन्द, द्रव्य वस्तु है, उसका राग और विकल्प में प्रेम करके अनादर किया; हे जीव ! उसमें तेरे जीवन का घात होता है।

परम आनन्दमूर्ति भगवान वस्तु, जिसकी खान में अनन्त परमात्मा पड़ा है, सिद्ध की समय-समय की अनन्त अवस्था होती है, ऐसा अनन्त परमात्मा आत्मद्रव्य में पड़ा है - ऐसा जो आत्मद्रव्य वस्तु, उस वस्तु का वर्तमान पर्यायअंश में आदर छोड़कर, एक समय के अंश का आदर किया, इसलिये मिथ्यात्व भाव हुआ, और इसलिये जो राग-द्वेष हुआ सो अशुद्धनिश्चय से हुआ है। शुद्धनिश्चय स्वभाव में वे नहीं हैं।

भगवान ! तेरी बात भगवान कहते हैं। भगवान सर्वज्ञ प्रभु समवसरण-धर्मसभा में कहते थे। दिव्यध्वनि में ऐसा आया कि प्रभु ! तू पूर्ण स्वरूप वस्तु है। इसका तूने आदर नहीं

किया और एक समय की पर्याय को लक्ष में लेकर, मिथ्याभ्रम और राग-द्वेष उत्पन्न किये हैं, सो एक समय की पर्याय में, तेरी पर्याय के अस्तित्व में उत्पन्न हुआ विकार है। यह विकार और तेरा सम्बन्ध अशुद्धनिश्चय से है। भाई तू कौन है ? और तेरी भूल कितनी ? कितने समय की ? इसका विचार तूने कभी किया नहीं।

यहाँ कहते हैं कि भगवान ! वास्तव में तेरा स्वरूप - अशुद्धनिश्चय से उत्पन्न हुये विकार और कर्म के सम्बन्ध बिना का - त्रिकाली पूर्ण वस्तुरूप है। एक समय में भगवान पूर्णानन्द वस्तु है; और अशुद्धता है सो आत्मा की अवस्था में है। उसको त्रिकाली के साथ अशुद्धनिश्चय से सम्बन्ध कहने में आता है।

संयोग सब कहाँ रहा ? उसके साथ सम्बन्ध कैसा ? स्त्री, दुकान, ज़ेवर, मकान, आदि के साथ का सम्बन्ध असद्भूत-झूठी नय से-व्यवहार से, निमित्तरूप होनेसे उपचार से है - दूर है इसलिये। कर्म के रजकण नजदीक है, एक क्षेत्रावगाह है, इसलिये उसको अनुपचार कहा; फिर भी असद्भूत है क्योंकि जीव की पर्याय में नहीं है, भिन्न है। वे एक क्षेत्र में भिन्न हैं; और संयोग भिन्न क्षेत्र में भिन्न है; इसलिये असद्भूतनय से उपचार है। वास्तव में इसके साथ सम्बन्ध नहीं है। शरीर को आत्मा थोड़े ही रख सकता है ? शरीर की अवस्था, राग और विकल्प के आधीन त्रिकाल में नहीं है, ऐसा भगवान कहते हैं। अजीवतत्त्व की अवस्था को जीव यदि करे तो अजीव की स्वतन्त्रता नहीं रहती। भगवान कारणतत्त्व में, यह धूलि नहीं है - यह भिन्न तत्त्व है। एक समय की अवस्था में मलिन

पुण्य-पाप के भाव सो अशुद्ध अंश है। वह अंश से बन्द हुआ। कर्म से बन्ध और कर्म छूटने से मुक्ति होती है। पर्याय में बन्ध-मुक्ति है, वस्तु में बन्ध-मुक्ति नहीं। वीतराग सर्वज्ञकथित तत्त्व सन्तों ने आसान कर दिया है।

जड़कर्म से मुक्ति भी असद्भूतव्यवहार से है। यह असद्भूत सम्बन्ध था और पुण्य-पाप के भाव का सम्बन्ध भी असद्भूतनिश्चय से था - ये दोनों छूट गया। यह सूक्ष्म बात है। वीतरागकथित तत्त्व बहुत गूढ़ है।

भगवान आत्मा वस्तु, अनादि-अनन्त ध्रुवतत्त्व, उसकी पर्याय में ऐसा दो प्रकार कहा - अवस्था में मलिनभाव सो अशुद्ध निश्चय से सम्बन्ध कहा और रजकण का सम्बन्ध एकक्षेत्रावगाह होने से असद्भूतअनुपचार कहा। दो नय से बन्ध और मुक्ति को कहा कि असद्भूत से बन्ध और असद्भूत से मुक्ति। यद्यपि मुक्ति आत्मा के आश्रयपूर्वक है तो भी व्यवहार से कहने में आती है। निश्चय शुद्ध परमात्मा को बन्ध का होना और बन्ध का अभाव, सो द्रव्य में - वस्तु में नहीं; इसको यहाँ शुद्ध कहते हैं। एक समय की अवस्था में बन्ध और बन्ध का अभाव है; सो बन्ध के अभाव की अपेक्षा भी अशुद्धनिश्चय से लागू होती है। अशुद्धनिश्चय और व्यवहार एकार्थ है। उसका अंश है इसलिये व्यवहार से बन्ध और व्यवहार से मुक्ति है। निश्चयस्वरूप भगवान द्रव्यस्वरूप में - बन्ध और मुक्ति - वस्तु में नहीं है। भाई ! वस्तु जो है सो त्रिकालीतत्त्व है, उसमें बन्ध होवे तो वस्तु का अभाव हो जाय और इसकी मुक्ति का अर्थ क्या? वस्तु में बन्ध और मुक्ति है नहीं। यहीँ तो

उपचार से कहकर व्यवहार में, बन्ध-मुक्ति दोनों को डाला है।

भाई ! तेरा पदार्थ भगवान जितना बड़ा पदार्थ है ! भगवान का आत्मा और यह आत्मा में वस्तुता से कुछ फ़र्क़ नहीं। इन्होंने अवस्था में - पर्याय में फ़र्क़ किया। पर्याय अर्थात् व्यवहार से फ़र्क़ हुआ। वस्तु में फ़र्क़ नहीं है। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है। चैतन्य का पिंड प्रभु आत्मा है। एकीला चैतन्य का प्रकाश का पिंड प्रभु आत्मा है। इसका अभान होने से, एक समय की अवस्था में उत्पन्न किया हुआ विकार-विकल्प, मिथ्यात्वभाव-परलक्षीभाव-जिसके निमित्त से जड़कर्म बन्धा - ये दोनों अशुद्धव्यवहारनय से है। शुद्धनिश्चय से वस्तुस्वरूप में वस्तु है सो है।

वास्तव में तो भगवान आत्मा वस्तु है, उसका आश्रय करके पर्याय हुई, सो भी भेदरूप हुई न ? यह व्यवहार हुआ। मोक्षमार्ग भी व्यवहार हुआ। यहां निश्चय-व्यवहार की (जो मोक्षमार्ग की पर्याय होती है, इसकी) बात नहीं है। यहाँ तो द्रव्य-पर्याय की बात है। भगवान आत्मा, वस्तु...वस्तु...वस्तु...अनादि-अनन्त, ध्रुव, अनन्त गुण का पिंड, उसका सम्यग्दर्शन में आश्रय किया और जो (निर्मल) पर्याय प्रगट हुई, सो पर्याय व्यवहारनय का विषय है। पर्याय है सो व्यवहारनय का विषय है। अन्तर में पूर्ण एकाग्र होनेपर केवलज्ञान प्रगट हुआ, सिद्ध हुआ, ये सब व्यवहारनय का विषय है। व्यवहार अर्थात् त्रिकाली द्रव्य का एक अंश है। शुद्धदशा भी एक अंश है, त्रिकाली स्वरूप नहीं। संसार भी पर्याय है, और मोक्ष भी निर्विकारी पूर्ण दशा है।

वस्तु तो अनादि-अनन्त ध्रुव है।

वस्तु जो शुद्ध पारिणामिक स्वभाव है, जो कभी परिणमती नहीं है, उत्पाद्-व्यय में नहीं आती है। आत्मा में नई अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था का नाश होता है, सो पर्याय का कार्य है। वस्तु ध्रुव है, सो जैसी की तैसी है। अविनश्वर शक्तिमान स्वतत्त्व है, सो शुद्ध पारिणामिक है अर्थात् परम सत्यस्वरूप, एकरूप परमभाव है। विकार-पर्याय एक समय का भाव, अपरमभाव है। उसको, वस्तु जो त्रिकाली है सो शुद्ध परमभाव को ग्रहण करनेवाला निश्चयनय से, नहीं करती है। भगवान शुद्ध पारिणामिकवस्तु स्वयं न तो बन्ध को करती है और न बन्ध के अभाव को करती है। केवलज्ञान भी एक समय की दशा है, केवलज्ञान भी त्रिकालीवस्तु नहीं। त्रिकाली को जाननेपर भी केवलज्ञान एक समय की दशा है। सिद्ध भी एक समय की दशा है।

उत्पाद्-व्यय-ध्रुवस्वरूप वस्तु क्या है ? अवस्था में क्या है ? पर में क्या ? इसको दूसरा कौन-कौन के साथ कैसा सम्बन्ध है ? ये सब जाने बिना, हे जीव ! तू क्या करेगा ? हरितकाय आदि का त्याग करता है, लेकिन त्याग क्या है ? इसकी खबर नहीं, तो त्याग कहाँ से किया ? ऐसे जीव को आत्मा का - खुद का त्याग दृष्टि में होता है।

एक समय की हालत है, जो दशा, सो दशा संसार की हो या संसार के अभाव की हो, वस्तुस्वरूप परमपारिणामिक सत्...सत्..सत्... अनादि-अनंत ऐसा आत्मा, एक नय से विकार को करता भी नहीं, विकार को टालता भी नहीं। बंध और

मोक्ष से रहित भगवान वस्तुस्वरूप है। ध्रुव....ध्रुव...अखण्डानंद द्रव्य में, वर्तमान पर्याय का बंध और बंध का अभाव वस्तु में नहीं है - ऐसा भगवान ने कहा है। त्रिलोकनाथ भगवान तीर्थंकरदेव सौ इन्द्रों की उपस्थिति में ऐसा फ़रमाते थे।

परमात्मा सीमंधर प्रभु महाविदेह क्षेत्र में बिराजते हैं। ऐसे बीस तीर्थंकर वर्तमान में बिराजते हैं। कितने लाख केवली बिराजते हैं - यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह भगवान फ़रमाते हैं - त्रणकाल के भगवंत यही फ़रमाते हैं - वस्तु जो एकरूप द्रव्य, परमस्वरूप, त्रिकाल आनंदकंद, ज्ञायक द्रव्य, ऐसा शुद्धात्मा आराधने योग्य है। आराधनेवाली तो पर्याय है। वस्तु अंतर अनंतगुण का पिंड, एकरूप, ध्रुववस्तु जिसमें बंध-मोक्ष की पर्याय नहीं है, ऐसा आत्मा भीतर में श्रद्धान के योग्य है, अर्थात् उसकी दृष्टि और अनुभव करने योग्य है। ऐसा अखण्डानंद द्रव्य चैतन्यमूर्तिपर अंतर में टकटकी लगाकर एकाग्रता करनी योग्य है। - ऐसी एकाग्रता का नाम धर्म है, अर्थात् मोक्षमार्ग है।

भाई ! सुन तो सही तेरी रिद्धि !! तू कैसा है ! और कितना है ! सुने बिना कैसे समझे ? और बिना समझे धर्म कहाँ से हो ? (बाजार में) माल लेने को जाता है तो भी यही चीज़ लेना है ऐसा निश्चय करता है, वरना काम कैसे होय ? ऐसे यह आत्मा कैसा है ? इसको देखना है, ग्रहना है, समझना है, वरना धर्म कहाँ से होगा ? धर्म करना है, लेकिन होगा कैसे ? इसकी ख़बर नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि धर्म सीधा आत्मामें से होता है। शुद्ध वस्तु अखण्डानंद

प्रभु आत्मा, इसकी अंतर श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव करने पर धर्म आत्मामें से आता है; दूसरी ओरसे धर्म आ सके, ऐसा नहीं है।

शुद्धा आत्मा प्रभु जिसको एक समय की पर्याय - राग की अवस्था, बंध और बंध के अभाव की - नहीं है, ऐसी जो ध्रुववस्तु परमात्मा चैतन्यतारा, उसको पहचानकर, दृष्टि-ज्ञान करके, ठरने योग्य है; इसके बिना, वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के पंथ में दूसरा कुछ मार्ग नहीं है। लोग दूसरा मानते हैं, कल्पना करते हैं। (जैन) संप्रदायवाले को पता नहीं है तो दूसरे को तो पता कहाँ से हो?

श्री परमात्मप्रकाश-गाथा ६८ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

(कार्तिक वद ५, दिनांक २३-१२-६५, शनिवार)

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ।।६८।।

यद्यपि यह आत्मा, वस्तु जो द्रव्य, शुद्ध परमपारिणामिकभावरूप वस्तु है, सो वस्तु न बंध की कर्ता है, न मोक्षमार्ग की कर्ता है, न मोक्ष की कर्ता है - यह सूक्ष्म बात है। वस्तु जो द्रव्य ध्रुववस्तु है, सो संसार के भाव को नहीं करती है, मोक्षमार्ग को नहीं करती है और मोक्ष को नहीं करती है।

आत्मा अखण्डानंद ध्रुवतत्त्व वस्तु, ऐसा आत्मा, जन्म, मरण, बंध, मोक्ष आदि अवस्था को नहीं करता है। वर्तमान पर्याय में - वस्तु शुद्ध द्रव्य है ऐसी शुद्धात्मानुभूति का अभाव होनेसे - शुभ-अशुभ उपयोग को करता हुआ, जीवन-मरण, शुभ-अशुभ कर्मबंध को करता है। वस्तु तो पर्याय रहित ध्रुव है। वस्तु जो है - निश्चयतत्त्व, सो निश्चय का विषय है। और उसकी जो पर्याय है सो व्यवहारतत्त्व, व्यवहार का विषय है। ऐसे आत्मा का व्यवहारतत्त्व है सो पर्याय है। और आत्मा का निश्चयतत्त्व है सो एकरूप ध्रुव....ध्रुव...ध्रुव... है। और व्यवहारतत्त्वरूप पर्याय में जब तक वस्तु का लक्ष, रुचि, स्थिरता, अनुभूति,

मोक्षमार्ग का अभाव है तब तक शुभाशुभ भाव को पर्याय करती है। आत्मा करता है उसका अर्थ द्रव्य नहीं, पर्याय करती है। द्रव्य चैतन्यभगवान, ज्ञायकस्वरूप जो वस्तु है, सो तो पर्याय बिना की, उत्पाद-व्यय बिना की है। उत्पाद-व्यय जो है सो व्यवहारनय का विषय आत्मा है। निश्चय का विषय त्रिकाल ध्रुव है। निश्चयतत्त्व जो वस्तु, उसके अनुभव की व्यवहारपर्याय जो है अनुभूति अर्थात् ज्ञायकमूर्ति का श्रद्धान, ज्ञान, रमणतारूप अनुभव अर्थात् मोक्ष का मार्ग ऐसी जो शुद्ध व्यवहारपर्याय, उसके अभाव में पर्याय में शुभ-अशुभभाव को करता है और शुभअशुभभाव के कारण जन्म-मरण को करता है; और शुद्धात्मानुभूति के प्रगट होनेपर शुद्धोपयोग से परिणत मोक्ष को कर्ता है। (- इसका विवरण :) वस्तु तो वस्तु है। सो वस्तु ज्ञायक चैतन्य पदार्थ - उसके अनुभवरूप श्रद्धान, ज्ञान और शांति सो अनुभूति - पर्याय प्रगट होनेपर जो आत्मा की व्यवहारपर्याय, मोक्षमार्ग की पर्याय, उसको व्यवहारतत्त्व कहने में आता है। शुद्धोपयोग से परिणत यह भी पर्याय अर्थात् व्यवहार आत्मा है। शुद्धस्वभाव में एकलक्ष करके, शुद्धोपयोगरूप पर्यायरूप परिणमकर, मोक्ष को कर्ता है सो भी व्यवहार है। मोक्षपर्याय भी व्यवहार है। द्रव्य जो है निश्चय ध्रुव, उसमें बंध, मोक्ष, मोक्षमार्ग नहीं है। निश्चयनय की सत्वस्तु त्रिकाल एकरूप है।

भाई ! ध्रुवतत्त्व, त्रिकाल एकरूप सदृश तत्त्व है, उसमें बंध-मोक्ष नहीं है। मात्र एक समय की पर्याय में - उत्पाद-व्ययरूप पर्यायरूप व्यवहार में, शुद्धात्मानुभूति के अभाव से, शुभाशुभ परिणमता है और जीवन-मरण करता है; और यही

द्रव्य स्व की शुद्धात्मानुभूति के काल में, शुद्धोपयोगरूप परिणमन करके मोक्ष को करता है। मोक्ष की पर्याय को कार्यरूप करता है, सो मोक्ष भी व्यवहारपर्याय है। निश्चयद्रव्य में पर्याय नहीं है। इस प्रकार अवस्था में होनेपर भी शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहक शुद्धनय से आत्मा बंध और मोक्ष को कर्ता नहीं है। शुद्ध पारिणामिकभाव, ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, एक समय की अवस्था, पर्याय, उत्पाद-व्यय बिना का तत्त्व है। निश्चयआत्मा बंध-मोक्ष का कर्ता नहीं। पर्यायरूप व्यवहार आत्मा, शुभाशुभ बंध को करे और पर्याय में अनुभूति से मोक्ष को करे। वस्तु सदृश रहनेवाली चीज़ चैतन्य.... चैतन्य... चैतन्य, एकरूप रहनेवाली वस्तु सो निश्चयनय का विषय है - यही निश्चयतत्त्व है। अवस्था का उत्पन्न होना और अवस्था का नाश होना, यह व्यवहारनय का विषय है - यह पर्यायतत्त्व है। यहाँ परद्रव्य के साथ कुछ संबंध नहीं है, इस प्रकार के व्यवहार की बात नहीं है। निश्चय ध्रुव में पर्याय नहीं है, एकला ध्रुव है, सदृशभाव, शुद्ध पारिणामिकभाव, त्रिकाल एकरूप, अनंतगुण का एकरूप - उसमें बंध नहीं है, मोक्ष नहीं है और मोक्ष का मार्ग नहीं है। वस्तु तत्त्व है, उसका दो प्रकार - एक शाश्वत रहनेवाला सदृश है और एक पर्यायरूप होनेवाला विसदृश है। विसदृश का अर्थ विकार नहीं - उसका अर्थ उत्पाद-व्ययरूप होना - ऐसा है। यह सब पर्याय अपरमभाव है। मोक्ष, मोक्ष का मार्ग ये सब अपरमभाव है, क्षायिकभाव भी अपरमभाव है, परमभाव नहीं है। त्रिकाली ध्रुव सदृश रहे सो परमभाव है। यही ध्रुवपर दृष्टि देना, पर्याय की ओर न देखना, तो मुक्ति होगी, ऐसा कहने

का अभिप्राय है।

ध्रुव का आखा कंद पड़ा है; इसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता, ज्ञान नहीं होता, चारित्र नहीं होता, मुक्ति नहीं होती। कार्य होता है पर्याय से। लेकिन यह `कारण' जो `महा भगवान' कैसा है !! - उसकी श्रद्धा, ज्ञान बिना मोक्षमार्ग उत्पन्न नहीं होता।

वीतराग सर्वज्ञदेवकथित तत्त्व को, जीवने जाना नहीं। `भगवान आत्मा, सदृश ध्रुव, परमपारिणामिकभाव है' इस दृष्टि से देखने में आवे तो बंध और मोक्ष इसमें नहीं है। मोक्ष भी अपरमभाव है। मोक्ष का मार्ग तो अपरमभाव है ही, मगर केवलदर्शन, केवलज्ञान, केवलआनंद, केवलवीर्य ये भी एक समय की पर्याय - अपरमभाव है। त्रिकालीभाव परमभाव है।

द्रव्य परिणमन बिना का, उत्पाद-द्रव्य बिना का है। उसपर दृष्टि देने की है। - ऐसा सुनकर शिष्यने प्रश्न किया : शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर आत्मा मोक्ष का कर्ता नहीं है, तो ऐसा समझना चाहिए कि शुद्धनयकर मोक्ष ही नहीं है और जब मोक्ष ही नहीं तब यत्न करना वृथा है?

इसका उत्तर कहते हैं : वस्तु जो सत् चिद् त्रिकाल, वह स्वयं बंध-मोक्ष को नहीं करती है। परिणत हुई पर्याय में बंध-मोक्ष या मोक्षमार्ग है। शुद्ध निश्चयनय से वस्तु में बंध-मोक्ष नहीं है तो शुद्धनय से मोक्ष का पुरुषार्थ भी नहीं है। मोक्ष है, वह बंधपूर्वक है। मोक्ष की पर्याय आत्मा में होती है, वह बंधपूर्वक है। बंध का उत्पाद होता है, उसका नाश होकर बाद में मोक्ष होता है। और जो बंध है, वह शुद्ध

निश्चयनयकर होता ही नहीं। वस्तुस्वरूप से, शुद्ध निश्चयनय से बंध हो तो बंध कभी छूटे नहीं। शुद्ध निश्चय अर्थात् शुद्ध सत्त्व, वस्तु त्रिकाल एकरूप को (शुद्ध) नय से देखनेपर बंध होता ही नहीं। इस कारण बंध के अभावरूप मोक्ष है, यह भी शुद्ध निश्चयनयकर नहीं है। जो शुद्ध निश्चय से बंध होता तो हमेशा बंधा ही रहता। कैसी बात है ! ध्रुव रहनेवाली वस्तु को, ध्रुव की दृष्टि से देखने में आवे और बंध इसमें होवे तो बंध भी ध्रुव रहे, ऐसा कहते हैं। बंध का अभाव कभी न हो सके। वस्तुरूप, नित्यपणे, ध्रुवरूप बंध होवे तो बंध का भी नाश न हो सके। इसके बारे में समझने के लिये दृष्टांत कहते हैं : कोई एक पुरुष साँकलसे बंध रहा है। और कोई एक पुरुष बंध रहित है। उनमें से जो पहले बंधा था उसको `मुक्त' ऐसा कहना ठीक मालूम पड़ता है। और दूसरा जो बंधा ही नहीं उसको जो `आप छूट गये' ऐसा कहा जाय तो वह क्रोध करे कि, मैं कब बंध था ! सो यह मुझे छूटा कहता है ? बंधा होवे वह छूटे। इसलिये बंधे को तो छूटा कहना ठीक है; और बंधा ही न हो उसे छूटा कैसे कह सकते हैं ? उसी प्रकार यह जीव शुद्ध निश्चयनयकर बंधा हुआ नहीं है। वस्तु जो है, तत्त्व है, है, वह है, सदृश है, एकीला सदृश गुण का सत्त्व है - द्रव्य सो कभी बंधा हुआ नहीं है। द्रव्य को बंधा हुआ कहना और द्रव्य को मुक्त कहना सो ठीक नहीं। बंध मुक्ति, उत्पाद-व्यय पर्याय बिना का द्रव्य, ऐसा भगवान परमात्मा शुद्ध निश्चयनय से भूतार्थ है। निश्चय से यथार्थ है। उसकी दृष्टि करने से, उसका अनुभव

करने से सम्यग्दर्शन होता है। देव-शास्त्र-गुरु तो बाहर रहे, विकल्प भी बाहर रहा और निश्चय-व्यवहार की पर्याय भी बाहर रह गई।

* दृष्टि को निमित्तपर रखने से सम्यग्दर्शन होता है ? - तीन काल में नहीं।

* दृष्टि को विकल्प, दया, दान, भक्ति, पूजा के भावपर रखने से सम्यग्दर्शन होता है ? - तीन काल में नहीं।

* दृष्टि को, क्षयोपशमज्ञान-वीर्यादि की जो पर्याय प्रगट है उस पर रखने से सम्यग्दर्शन होता है ? - तीन काल में नहीं।

बंध भी व्यवहारनयकर है। आत्मा की विकार में अटकी हुई राग की पर्याय भी व्यवहार से है। मुक्ति भी व्यवहारनय से है। शुद्ध निश्चयनयकर न बंध है, न मोक्ष है। अशुद्ध नयकर बंध है सो व्यवहारनय हुआ। बंध और मोक्ष की व्यवस्था, यह अशुद्धनय है। अशुद्धनय कहो या व्यवहारनय कहो, एक ही बात है। मोक्ष भी सद्भूत उपचरितव्यवहारनय का विषय है। मोक्ष की पर्याय जो है, यह स्वयं व्यवहार है। स्वभावआश्रित मोक्ष का मार्ग जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है सो पर्याय व्यवहार है। व्यवहार मोक्षमार्ग जो दया-दान का विकल्प सो व्यवहार की बात यहाँ नहीं है; वे तो बंधमार्ग में गये। कषाय की मंदता का परिणाम, भक्ति, पूजा, दया, दान, देव-शास्त्र-गुरु प्रति की श्रद्धा का भाव, सो राग तो बंध की पर्याय है, निश्चय में तो है ही नहीं। यह बंध का अभावरूप मोक्षमार्ग सो भी व्यवहार पर्याय है। उत्पाद-व्ययरूप पर्याय है, वह ध्रुव

नहीं है। स्वभाव के आश्रित शुद्धोपयोग का परिणमन सो भी व्यवहार है। मोक्ष भी व्यवहार है। एक अपूर्ण पर्याय है, एक पूर्ण पर्याय है - दोनों व्यवहार है। पर्याय स्वयं व्यवहार है। आश्रय लेनेवाली पर्याय व्यवहार है। जिसका आश्रय लेने में आता है सो वस्तु निश्चय है। व्यवहार का अर्थ विकल्प और भेद नहीं; पर्याय अंश है इसलिये व्यवहार है। व्यवहार की व्याख्या क्या ? ध्रुव में उत्पाद-व्यय का होना सो व्यवहार है; यही सिद्धांत है। आगमपद्धति में दया, दान के भाव को व्यवहार कहते हैं। अध्यात्मपद्धति में तो शुद्ध पर्याय को व्यवहार कहते हैं। द्रव्य शुद्ध निश्चय है। द्रव्य जो है सो निष्क्रिय है। त्रिकाली ध्रुव के अवलंबन से जो निर्मल पर्याय हुई, यह मोक्ष का मार्ग सक्रिय है। ध्रुव में सक्रियपना - परिणमन कहाँ है ? द्रव्यस्वभाव तो निष्क्रिय है। विकल्प है सो बंध का परिणमनरूप सक्रिय है। मोक्ष का मार्ग होवे सो निर्मल पर्यायरूप परिणाम, सक्रिय अवस्था है। और पूर्ण पर्याय मोक्षरूप सक्रिय अवस्था हुई।

अहो ! वीतरागकथित तत्त्व अलौकिक है ! अहो ! वीतराग द्वारा अनुभव किया हुआ पूर्ण मार्ग ! श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है न : ``अहो ! यह देह की रचना ! अहो ! यह चेतन का सामर्थ्य ! अहो ज्ञानी ! अहो ! ज्ञानी की गवेषणा ! अहो ! ज्ञानी का ध्यान ! अहो ! ज्ञानी की समाधि ! अहो ! उनके वचन का योग !'' - अंतर की बात में वीतरागता के भासमें ये उद्‌गार हैं ! अहा...हा...हा...हा...!

भगवान आत्मा, त्रिकाली तत्त्व, ऐसे निश्चयस्वरूप में सक्रियता या बंध-मोक्ष कैसे हो ? निश्चय मोक्षमार्गरूप परिणमन भी सक्रिय

है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य द्रव्य निष्क्रिय है। निष्क्रिय अर्थात् परपदार्थ की क्रिया करे ऐसा नहीं, राग करे यह भी निष्क्रिय नहीं, लेकिन मोक्षमार्ग की पर्याय भी जिसमें नहीं है। वस्तु तत्त्व निष्क्रिय, वह मोक्ष की सक्रिय पर्याय को कैसे करे ? शुद्ध निश्चयनय से न बंध है, न मोक्ष है। वास्तव में अशुद्ध निश्चयनय से ही बंध है। अशुद्ध निश्चय अर्थात् व्यवहार पर्याय एकदेश शुद्धनय है अर्थात् व्यवहार है, इसलिये बंध के नाश का यत्न भी अवश्य करना चाहिए। अर्थात् ध्रुव का प्रयत्न अंतरलक्ष करना चाहिए।

यहाँ यह अभिप्राय है कि, सिद्ध समान अपना शुद्धात्मा, अर्थात् शुद्ध...शुद्ध...शुद्ध...द्रव्य वस्तु आत्मा, वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन पुरुषों को उपादेय है। भगवान आत्मा, उस ओर की बिना राग की श्रद्धा, ज्ञान और शांति, ऐसी अरागी - वीतरागी श्रद्धा, ज्ञान और शांति के काल में, यह आत्मा उपादेय अर्थात् दृष्टि में आता है। यह पर्याय - बिना राग की हुई, निर्विकल्प अभेद परिणति हुई इस पर्याय में, शुद्धात्मापर लक्ष है, वह उपादेय है। ध्रुव उपादेय है।

भगवान आत्मा, वस्तु जो ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव...उसपर दृष्टि देनेवाली दशा, उसमें स्थिर होनेवाली दशा को निर्विकल्प शांति कहते हैं। उसमें यह (विद्यमान) द्रव्य उपादेय है, अन्य सब हेय हैं। क्षायिक सम्यक्त्व की पर्याय प्रगट होनेपर भी, द्रव्य की उपादेयता के काल में हेय है - एक ही बात है। क्षायिक सम्यक्त्व, जो द्रव्य के लक्षसे होता है सो भी हेय है; क्योंकि द्रव्य में ज़ोर देनेका है; उसमें से नयी पर्याय प्रगट होती है।

क्षायिक समकित के लक्षसे चारित्र नहीं होता है। निश्चय मोक्षमार्ग हेय है, मोक्ष भी हेय है; द्रव्य ही उपादेय है। यह तो ``परमात्मप्रकाश'' है !! परमात्मा द्रव्य वस्तु एकमात्र आदरणीय है, अन्य कुछ आदरणीय नहीं।

वस्तु...वस्तु...वस्तु....शाश्वत आनंदधामरूप, ध्रुव द्रव्य, यह एक ही लक्ष करने योग्य है। और सब प्रगट हुई पर्याय भी लक्ष करने योग्य नहीं है। यह अपेक्षा से हेय कहने में आती हैं।

मुनि को छठवें गुणस्थान में तीन कषाय का अभावरूप चारित्र प्रगट है। उसको भी यह तीन कषाय का अभावरूप चारित्र उपादेय नहीं है। अहा...हा...हा...! क्योंकि द्रव्य अंतर में एकाकार पड़ा है - वही परमेश्वर द्रव्य, त्रिकाली ध्रुव आदरणीय है, अन्य कुछ आदरणीय नहीं है।

भगवान ! तू क्या अपूर्ण हो, जिससे तेरेको परके सहारे रहना पड़े ? भगवान आत्मा सत् शाश्वत ध्रुव है। उसके लक्ष से प्रगट हुई पर्याय, सो व्यवहार, भी हेय है। एक चिदानंद ध्रुव शाश्वत प्रभु, सो निज मंदिर में आदरने लायक है। भगवान आत्मा, द्रव्यार्थिकनय का विषय, अर्थात् द्रव्य वस्तु, महा परमेश्वर चैतन्य महाप्रभु, यह ध्रुव में लक्षकर अर्थात् उसको उपादेयकर, उसका आश्रय करना यही मोक्षमार्ग है, मोक्ष भी उससे होता है; इसलिये यही एक आदरणीय है।

दृष्टि का विषय

वस्तु त्रिकाली है, जिसके आश्रय से निर्मल पर्याय होती है। पर्याय के आश्रय से पर्याय निर्मल नहीं हो सकती। गुरु के वचनप्रति लक्ष जाता है तब तक निमित्त, शास्त्र, गुरु और ज्ञान सब विनाशी; लेकिन ध्रुव की ओर नज़र लगे तब ज्ञान अविनाशी होता है। अनुभव और सम्यग्दर्शन अवस्था है। उसको (सम्यग्दर्शन की पर्याय को) और आत्मा को त्रिकाली संबंध नहीं है। क्योंकि वह (अवस्था) बदल जाती है। दर्शन, निमित्त का स्वीकार नहीं करता है, परंतु बाद में उपचार से निमित्त कहने में आता है; पीछे से ज्ञान निमित्त को जानता है। दर्शन के समय निमित्त नहीं है। पीछे से निमित्त कहलाया। निमित्त को राग से जानता है तब तक ज्ञान विनाशी-अनित्य है। वह (विनाशी ज्ञान) अविनाशी को लाभ करता नहीं। वह तो पूर्व का उघाड़ (क्षयोपशम) है। खुदने ही जब स्वयं की ओर ढलकर निर्णय किया तब निमित्त कहने में आता है। जिस काल में अविनाशी ज्ञान होता है उस काल में निमित्त का सवाल (प्रश्न) ही नहीं रहता। निर्णय सामान्य के प्रति ढल गया, तत्काल संसार छूट गया। संसार छूटने का कारण द्रव्य स्वयं है। निर्णय होनेके बाद निमित्त कहनेमें आता है। ध्रुवशक्ति साध्य है, मोक्ष साध्य नहीं है। मोक्ष प्रगट होता है। प्रगट-अप्रगट पर्यायदृष्टि में होता है। ध्रुव नित्य प्रगट है। प्रगट-अप्रगट का सवाल ही वस्तु में नहीं। प्रगट-अप्रगट अवस्था में है। वस्तु ध्रुव तो नित्य प्रगट ही है। साध्य वस्तु, साधन निर्णय (व्यवहार)। ध्रुव लक्ष में आने पर सहज निर्मल अवस्था प्रगटती है। पुरुषार्थ

करना नहीं पड़ता, सहज हो जाता है। आश्रय पर्याय का कैसा ? आश्रय स्वभाव का ! ध्रुव और मोक्ष दोनों साध्य होनेपर तो दो भंग पड़ जायें। दर्शन का विषय भंग (दो) नहीं है। सम्यग्दर्शन व केवलज्ञान खुल जाय सो निश्चय से आदरणीय नहीं है। साध्य-साधन का भेद निश्चय में है ही नहीं। भेद का ज़ोर आवे तो अभेदपर ज़ोर नहीं आता।

- [गु. आत्मधर्म अंक १०-११में से उद्धृत. (हिन्दी अनुवाद)]

आत्मा द्रव्यदृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है, अर्थात् द्रव्यदृष्टि से पुण्य-पाप का विकार होने का सामर्थ्य आत्मा में नहीं है। पर्यायदृष्टि से परिणामी है, स्वभाव में शुद्ध पर्यायरूप भी परिणमता है। और अशुद्ध पर्यायरूप भी परिणमता है। शुद्ध वस्तु-दृष्टि से आत्मा अपरिणमन स्वरूप है अर्थात् कूटस्थ है; लेकिन तद्दन कूटस्थ है ऐसा नहीं है; कथंचित् किसी अपेक्षा से कूटस्थ है और कथंचित् किसी अपेक्षा से परिणामी भी है। बंध और मोक्ष पर्याय है, सो निमित्त की अपेक्षा रखनेवाली पर्याय है। निरपेक्ष दृष्टि से आत्मा अपरिणामी है। अभेद दृष्टि से आत्मा अपरिणामी है। और द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद पाड़नेपर आत्मा में शुद्ध निरपेक्ष पर्याय है, इसलिये आत्मा परिणामी भी है। सिद्ध भगवंत के अनंत गुण में भी परिणमन हो रहा है, इसलिये आत्मा परिणामी है। लेकिन द्रव्यदृष्टि से - अभेद दृष्टि से आत्मा अपरिणामी है।

- [समयसार प्रवचन भाग-५, पृष्ठ ३५२-५३, गाथा २८० के प्रवचनमें से उद्धृत. (हिन्दी अनुवाद)]

ज्ञानदर्शनलक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है,
शेष सब संयोगलक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य है।
- नियमसार/गा. १०२

ॐ

श्री परमात्मने नमः

द्रव्यदृष्टि प्रकाश

(तृतीय **खण्ड**)

पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी के
साथ मुमुक्षुओंकी हुई आध्यात्मिक
तत्त्व-चर्चा

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

`परिणाम योग्यतानुसार हो जाता है; मैं वो (परिणाम जितना ही) नहीं।' - इसमें किसीको ऐसा लगे कि, क्या परिणाम जड़ में होता है ? अथवा निश्चयाभास-सा लगता है। लेकिन ऐसा कहने में तो ``अपरिणामी का'' ज़ोर बताना है। १.

❁

प्रश्न :- आप शुद्ध पर्याय को दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं या ज्ञान की अपेक्षा से ?

उत्तर :- दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं; ज्ञान की अपेक्षा से नहीं। दृष्टि करने के प्रयोजन में भिन्नता का ज़ोर दिये बिना दृष्टि अभेद नहीं होती; इसलिये दृष्टि की अपेक्षा से ही भिन्न कहते हैं। और अपनी तो यही `दृष्टिप्रधान' शैली है, सो ऐसे ही कहते हैं। २.

❁

निर्विकल्प होते ही अपनेमें से ही एक ज्ञान उघड़ता है जो दोनों (सामान्य-विशेष) पड़खों को सहज जान लेता है, उसीको प्रमाणज्ञान कहते हैं। ३.

❁

`परिणाम' और `त्रिकाल अपरिणामी' - दो मिलकर ही पूर्ण

एक वस्तु है, जो प्रमाण का विषय है। वेदांतादि तो केवल निष्क्रिय...निष्क्रिय कहते हैं, वे परिणाम को ही नहीं मानते हैं; तो निष्क्रिय भी जैसा है वैसा तो उनकी मान्यता में भी नहीं आता। यहाँ तो परिणाम को गौण करके निष्क्रिय कहा जाता है। ४.

❁

एक चक्र के अनेक पासे (पहल) हैं, सभी पासे अलग-अलग ड़िजाइन के हैं। जब किसी एक पासे की बात चलती हो तब दूसरे पासे की बात नहीं समझनी चाहिए। ऐसे वस्तु के अनेक धर्मोंमें से भिन्न-भिन्न धर्मों की बात चलती हो, तब एक को दूसरे में मिलाकर, घोटाला नहीं करना चाहिए। ५.

❁

(अंतः तत्त्व और बहिर्तत्त्व की अपेक्षायें बताते हुए कहा :)

जब शुद्धपर्याय बहिर्तत्त्व है, ध्यान बहिर्तत्त्व है, तब ध्रुवतत्त्व (परम पारिणामिकभाव, कारणपरमात्मा) अंतःतत्त्व है। जब दो घर की बात चलती हो, तब उसमें तीसरे घर की टाँग (बात) ड़ालने से घोटाला हो जाता है।

ध्रुवतत्त्व अंतःतत्त्व है, तब शुद्धपर्याय बहिर्तत्त्व है। शुद्धपर्याय को अंतःतत्त्व कहें, तब अशुद्धपर्याय को बहिर्तत्त्व कहते हैं। अशुद्धपर्याय को अंतःतत्त्व कहें, तब कर्म को बहिर्तत्त्व कहते हैं। कर्म को अंतःतत्त्व कहें, तब नोकर्म को बहिर्तत्त्व कहते हैं। - ऐसे (अपेक्षित विवक्षानुसार) सब घटा (समझ) लेना। ६.

❁

सिद्ध (पर्याय) से भी मैं अधिक हूँ; क्योंकि सिद्ध (दशा)

तो एक समय की पर्याय हैं; और मैं तो ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड हूँ। ७.

❁

जैसे मेरुपर्वत अडिग है; `मैं' भी (स्वभाव से) वैसे ही अडिग हूँ। मेरु में तो परमाणु आते-जाते हैं; लेकिन मेरे में तो कुछ भी आता-जाता नहीं - ऐसा `मैं' अडिग हूँ। ८.

❁

`मैं वर्तमान में ही मुक्त हूँ, आनंद की मूर्ति हूँ, आनंद से भरचक समुद्र ही हूँ' - ऐसी दृष्टि हो, तो फिर मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; मोक्ष हो तो हो, न हो तो भी क्या? (पर्याय की इतनी गौणता द्रव्यदृष्टि में हो जाती है।)

मेरे को तो वर्तमान में ही आनंद आ रहा है फिर पर्याय में तो मोक्ष होगा ही ! (- ऐसी प्रतीति आ जाती है।) लेकिन मेरे को तो उससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं। ९.

❁

`कुछ करना' (कर्तृत्वबुद्धि से) सो मरने बराबर है। मुझे शुरू से ही `कुछ करने के भाव में' मरने जैसा बोझा लगता था। शुभपरिणाम होते (तो) मैं भट्ठी में जल रहा हूँ - ऐसा लगता था।

समुद्र के जलमें से एक बूँद उड़कर बाहर पड़े तो उस बूँद को रेत चूस कर ख़त्म कर देगी; और यदि गर्म रेत हो तो बूँद तुरत ख़त्म हो जावेगी। वैसे ही परिणाम बाहर की ओर जाये (तो): उसमें दुःख ही दुःख है। १०.

❁

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से तो शुद्धपर्याय भी परद्रव्य है। जब मेरे अस्तित्व में वो (शुद्धपर्याय) नहीं तो फिर राग की तो बात ही क्या? (द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा अर्थात् द्रव्यस्वभाव में अहंभावरूप श्रद्धा का परिणमन होना। ऐसी श्रद्धा होनेपर ही पर्याय शुद्ध होती है परंतु श्रद्धा उसमें अहंभाव नहीं करती।) ११.

❁

पर्याय में तीव्र अशुभपरिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्धपर्याय हो `मेरे' में (एकरूप द्रव्यस्वभाव में) कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं होता, `मैं' तो वैसा का वैसा ही हूँ। १२.

❁

(द्रव्यदृष्टि के ज़ोर में :) केवलज्ञान से भी हमारे प्रयोजन नहीं; मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; वो तो हो ही जाता है। १३.

❁

ज्ञानका विषय, दृष्टिके विषयका प्रयोजन साधने जितना ही लक्ष्यमें लेना ठीक है; बाकी उसका (इससे अधिक) प्रयोजन नहीं है। (प्रयोजनभूत `स्वरूप' के अलावा जाननेमें आते हुए सभी ज्ञेयोंमें ज्ञानको अपना प्रयोजन भासित नहीं होता) १४.

❁

सुन-सुन करके मिल जायेगा, यह दृष्टि झूठी है। (कार्यसिद्धि) अपने (अन्तपुरुषार्थ) से ही होगी। सुनना, सुनाना, पढ़ना - ये सभी (बहिर्मुखीभाव, कार्यसिद्धिके लिए) बेकार हैं; ये हों तो भले हों; लेकिन उसका खेद होना चाहिए, निषेध आना चाहिए। १५.

❁

मैं पहले तो सब सुन लूँ, जान लूँ; पीछे पुरुषार्थ करुँगा (-ऐसा परिणाम, स्वभावकी अरुचिका द्योतक है) - ऐसे पीछेवाले सदा पीछे-पीछे ही रहेंगे। यहाँ तो वर्तमान इसी क्षणसे ही (पुरुषार्थ) करनेकी बात है। १६.

व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने से संक्षेप में परिणाम मात्र (जो कि व्यवहारनय का विषय है) अभूतार्थ है - ऐसा कहा है; चाहे तो परिणाम अशुभ हो, शुभ हो या शुद्ध हो। १७.

अपने परिणाम तक ही अपनी (कार्य) सीमाा है; इससे आगे तो कोई द्रव्य जा ही नहीं सकता। १८.

परिणाम अपना है; तो भी उसको आप खुद ही (कर्ताबुद्धि से) पलट नहीं सकते। परिणाम में कर्ता-कर्मपने का धर्म है, इसलिए वो तो पलटेगा ही। जब दृष्टि बाहर झुकी है; दृष्टि का प्रसार अपने को छोड़कर बाहर में है; तो परिणाम भी बाहर झुकेगा। और यदि दृष्टि अपने स्वभाव की ओर है, तो परिणाम भी अपनी ओर झुकेगा।

अपने को तो परिणाम भी पलटाना (फेरफार करना) नहीं है। `मैं' अपरिणामी हूँ और पलटना मेरा धर्म ही नहीं है; वह तो परिणाम का धर्म है। दृष्टि की अपेक्षा से शुद्ध परिणाम भी मेरेसे अलग ही है; ज्ञान उसको अपना अंश जान लेता है। १९.

प्रश्न :- प्रथम पात्रता का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :- अपने द्रव्य में दृष्टि को तादात्म्य करना, प्रसारना। बाह्य में तादात्म्य कर रही दृष्टि को अपने में तादात्म्य करना, यही प्रथम पात्रता है। २०.

❁

(आत्मिक आनंद के विषय में आपने कहा :) जब एक बार आनंद की घूँट पी ली...तब तो बार-बार वही घूँट पीने के लिए अपनी ओर आना ही पड़ेगा। दूसरी किसी जगह परिणति को रस ही नहीं आयेगा; बार-बार अपनी ओर आनेका ही लक्ष्य रहेगा, दूसरे सब रस उड़ जायेंगे। २१.

❁

(सहज पुरुषार्थ के विषय में आपने कहा :) पुरुषार्थ करुँ...पुरुषार्थ करुँ - यह बात भी नहीं है (सहज पुरुषार्थ का ऐसा स्वरूप ही नहीं है।) `मैं वर्तमान में ही अनंत पुरुषार्थ का पिण्ड हूँ' (- ऐसे स्वाश्रय में) पर्याय द्रव्य की ओर ढल जाती है। इसलिए (उपदेश में) पर्याय की अपेक्षा से पुरुषार्थ करने का कथन आता है। २२.

❁

`मैं स्वयं ही वर्तमान में भगवान हूँ' - (इसमें) भगवान होना भी क्या है ?.... अपने स्वभाव में दृष्टि का प्रसार होते, पर्याय मेरी ओर झुकते-झुकते, पर्याय में केवलज्ञान - सिद्धदशादि होती ही है; परंतु मुझे तो इससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं है। २३.

❁

पहेले तो (तत्त्व की) धारणा बराबर होनी चाहिए। लेकिन

धारणा अंतर में उतरे तभी सम्यग्ज्ञान होता है। धारणा में भी इधर का (आत्मा का) लक्ष्य होना चाहिए। (धारणा स्वलक्ष्यी होनी चाहिए। स्वलक्ष्यी धारणा प्रयोग की उत्पादक होती है। और प्रयोगान्वित धारणा में धारण किया हुआ उपदेश जब अंतर में उतरता है तभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है।) २४.

❁

अपने त्रिकाली अस्तित्व में अपनापन होनेसे पर्यायबुद्धि छूट जाती है। २५.

❁

विभाव तो मेरे से बहुत दूर है। यहाँ तो परिणाम (शुद्धपर्याय) भी मेरेसे भिन्न है। `मैं तो अपरिणामी हूँ' - एक समय के परिणाम के साथ नहीं बहता। २६.

प्रश्न :- द्रव्य को परिणामी कहें तो क्या हर्ज है ?

उत्तर :- `परिणाम' `परिणामी' कहने में थोड़ा शब्दफेर है। परिणाम से परिणामी को बताने में भी परिणाम की ओर लक्ष्य चला जाता है। इसलिए (परिणाम का लक्ष्य नहीं करनेके हेतु से) `परिणाम' `परिणामी' नहीं, परंतु `अपरिणामी' और `परिणाम' - ऐसा कहो। २७.

❁

शास्त्र में व्यवहार की कितनी बातें जीव स्वच्छंद में नहीं चढ़ जाए, इस हेतु से होती हैं। ....तो जीव उन बातों को पकड़कर, घोटाले में (एकांत में) चढ़ जाता है। (- व्यवहार को उपादेय मान लेता है।) २८.

❁

`मैं' (त्रिकाली) परिणाम में नहीं जाता। (त्रिकाली स्वभाव में अपनापन होनेसे) परिणाम सहज ही मेरी ओर आता है। २९.

❁

`मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे कुछ करना-धरना ही नहीं है' - ऐसी दृष्टि होनेपर, परिणाम में आनंद का अंश प्रकट होता है; और बढ़ते-बढ़ते पूर्णता हो जाती है। ३०.

❁

प्रश्न :- शुद्ध परिणाम में द्रव्य व्यापक है कि नहीं ?

उत्तर :- पूरे द्रव्य की (प्रमाणज्ञान की) अपेक्षा से देखा जाए तो द्रव्य परिणाम में व्यापक है। परंतु दृष्टि के विषय की (त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की) अपेक्षा से तो अपरिणामी द्रव्य परिणाम में व्यापक नहीं है। ३१.

❁

दृष्टि को विषयभूत द्रव्य एकांत कूटस्थ ही है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय एकांत अनित्य ही है। (- यह सम्यक् एकांत है।) ३२.

❁

प्रश्न : निर्विकल्प उपयोगमें कैसा आनंद आता है ?

उत्तर : निर्विकल्प उपयोगके सुखकी तो क्या बात कहें !! लेकिन समझानेके तौर-से जैसे गन्नेके (शेरड़ीके) रसकी घूँट पीते हैं, वैसे आनंदकी घूँट.... एकके बाद एक चलती ही रहती है; उसमेंसे निकलनेका भाव ही नहीं आता। ३३.

❁

(शुभाशुभ परिणाम होनेपर अन्तरंग स्थिति बताते हुए कहा :) अशुभपरिणामके कालमें इस ओरका (स्वसन्मुखताके पुरुषार्थका) झुकाव मन्द होता है। शुभपरिणामके कालमें इस ओरका थोड़ा ज्यादा (पुरुषार्थका) झुकाव होता है। (परन्तु दोनों प्रकारके परिणामोंके कालमें) दृष्टिका झुकाव तो वैसा का वैसा ही है। लडाईके कालमें बाहर लडाईकी क्रिया होती है और रागमें अशुभरागकी क्रिया होती है; पर `मैं' तो मेरेमें ही अचल रहता हूँ, मेरेमें तो उस समय भी रागकी क्रियाका अभाव है। ३४.

❁

`मै' अडिग हूँ, किसीसे डिगनेवाला नहीं हूँ - ऐसा निश्चय होनेपर, निर्णय का फल आनंद आना चाहिए; तब ही निर्णय सच्चा है। ३५.

❁

(भेदज्ञान का स्वरूप :) हर समय विकल्प से भेदज्ञान करना नहीं पड़ता, वो तो सहजरूप से हो जाता है। ३६.

❁

दृष्टि द्रव्य में तादात्म्य हो जानेपर भी चारित्रपरिणति कुछ च्युत होकर पर की ओर चली जाती है, तो भी स्वरूपाचरण की च्युति नहीं होती। ३७.

❁

(स्वरूप की) दृष्टि होने पर भी चारित्रगुण की योग्यता ही ऐसी होनेसे चारित्रगुण पूरा (शुद्ध) नहीं परिणम जाता। श्रद्धागुण का स्वभाव ऐसा है कि एक ही क्षण में द्रव्य में पूरा का पूरा व्याप्त हो जाता है। चारित्रगुण का स्वभाव ऐसा है कि

वह क्रम-क्रम से ही पूरा होता है। - ऐसे दोनों गुणों के स्वभाव ही अलग-अलग हैं। ३८.

❁

जब दृष्टि अपने स्वरूप में तादात्म्य होती है तो थोड़े काल तक राग आता तो है; लेकिन वह लँगड़ा हो जाता है, उसको आधार नहीं रहता। ३९.

❁

`मैं' तो कभी भी नहीं हिलनेवाला खूँटा हूँ। परिणाम आते हैं और जाते हैं, मगर `मैं' तो खूँटे की तरह अचलित ही रहता हूँ। ४०.

❁

बहिर्मुख होनेसे ज्ञान खिलता नहीं और अंतर्मुख होनेसे भीतर से ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। अपनी ओर ही देखने की बात है। ४१.

❁

(एक जिज्ञासु :) आत्मा को ही पकड़ने की बात है?

(भाईश्री :) पकड़ना क्या ? - `मैं तो स्वयं हूँ ही' - पकड़ना-फकड़ना सब परिणाम की अपेक्षा से कहने में आता है। परिणाम अपनी ओर झुका तो परिणाम की अपेक्षा से आत्मा को पकड़ा - ऐसा कहने में आता है। ४२.

❁

अपने द्रव्य में दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है; तब ज्ञान (अन्य) सभी बातें (यथार्थपने से) जान लेता है। ४३.

❁

जब अपनी ओरसे खिसक कर बाहर जानेका ही निषेध है, तो अशुभ में जाकर परमें रस पड़ जावे तब तो दृष्टि अपने द्रव्य में रही ही कहाँ ? - वह तो परमें चली गई। (मिथ्यादृष्टि जीव को प्रायः भोगोपभोग के अशुभ परिणाम में रस आता है जो स्वयं मिथ्यात्व के सद्भाव का द्योतक है।) ४४.

❁

``अनेकांत पण सम्यक् ऐकांत ऐवा निजपद नी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुए उपकारी नथी'' - श्रीमद्जी का यह वाक्य मुझे बहुत प्रिय लगता है। ४५.

❁

दूसरेसे सुनना-माँगना-सब पामरता है, दीनता है, भिखारीपना है। मेरेमें क्या कमी है, जो मैं दूसरेसे माँगूँ ! `मैं तो स्वयं ही परिपूर्ण हूँ।' ४६.

❁

``अहो ! जे भावे तीर्थंकरगोत्र बन्धाय ते भाव पण नुकसान कर्ता छे'' यह बात कहनेकी किसकी ताक़त है? -यह तो गुरुदेवश्रीकी ही सामर्थ्य है! ४७.

❁

तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे भी लाभ नहीं होता, तो फिर और किससे लाभ हो ? वह (दिव्यध्वनि) भी अपनेको (स्वको) छोड़कर एक भिन्न विषय ही है। (यहाँ पर सुननेके बहिर्मुखी परिणामसे छूटकर अंतर्मुख होनेकी प्रेरणा है।) ४८.

❁

विकल्प से और मन से (परलक्ष्यीज्ञान में) किया हुआ निर्णय सच्चा नहीं। अपनी ओर दृष्टि को तादात्म्य करनेपर ही अपने से किया हुआ निर्णय सच्चा होता है। पहले विकल्प से - अनुमान से (स्वलक्ष्यीज्ञान में) निर्णय हो, उसमें भी लक्ष्य तो अंतर में ढलने का ही होना चाहिए। ४९.

❁

`मैं' तो अडिग हूँ; किसीसे डिगनेवाला नहीं हूँ। जैसे इस देहाकार में स्थित आकाश अडिग है, हिलता-चलता नहीं; वैसे ही `मैं' भी अडिग हूँ। ५०.

❁

अंतर में आनंद की घूँट पीते हुए बाहर में आना गमे (रुचे) ही किसको ! बाहर में आते ही तो बोझा लगता है। ५१.

❁

प्रश्न :- चतुर्थ गुणस्थान में (निर्विकल्प) अनुभव कितने समय के अंतराल में होता होगा ?

उत्तर :- ऐसे अनुभव के अंतराल की कोई मर्यादा नहीं है। वह तो यदि विशेष अशुभ में हों तो (सामान्यतया) अंतराल लंबा भी हो जाए, और शुभ में हों तो जल्दी-जल्दी भी अनुभव होवे। किसीको महिने में दस बार भी हो। ५२.

❁

चैतन्य-गठरी `मैं' ही हूँ - ऐसी पकड़ हो जानेसे मति-श्रुतज्ञान अंतर में ढल जाता है; इसलिए अंतर में ढलने के लिए (उपदेश में) कहने में आता है। ५३.

❁

`मैं' वर्तमान में ही समझण का पिण्ड हूँ। ५४.

❁

(असाता के उदय में) सम्यग्दृष्टि को दुःख का वेदन होता है; लेकिन अपने स्वभाव की अधिकता के वेदन में उस वेदन की गौणता हो जाती है। ज्ञान में, शांति के वेदन के साथ-साथ दुःख का वेदन आता है; परंतु वह वेदन मुख्य नहीं होता - ज्ञानी को अपने स्वभाव की ही अधिकता रहती है, अपने स्वभाव की अधिकता कभी नहीं छूटती। ५५.

❁

जब दृष्टि अपने स्वभाव में प्रसर जाती है, तब पाँचों समवाय अपने ज्ञान में ज्ञेय हो जाते हैं। ५६.

❁

अज्ञानी उत्पाद-व्यय के साथ-साथ चलता जाता है (- पर्याय दृष्टि होनेसे - परिणाम का उत्पाद-व्यय होनेपर स्वयं का उत्पाद-व्यय अनुभवता है।) परंतु ज्ञानीने नित्य में (- द्रव्य में) अपना अस्तित्व स्थापित किया है अतः वह उत्पाद-व्यय के साथ नहीं चला जाता, किन्तु उत्पाद-व्यय को जान लेता है। ५७.

❁

ज्ञान की पर्याय आती है अंदर से, परंतु (अज्ञानी को) बाहर का लक्ष्य होनेसे ऐसा दिखता है कि मानो पर्याय बाहर से आती हो; इसलिए अज्ञानी को परसे ज्ञान होता है - ऐसा भ्रम हो जाता है। ५८.

❁

अनन्त तीर्थंकर हो गए, लेकिन अपने तो गुरुदेवश्री ही

सबसे अधिक हैं। जैसे कि - अपनेको धनकी ज़रूरत हो और कोई लखपति अपनी ज़रूरत-अनुसार धन दे देवे, तो वह (लखपति) अपने लिए तो अन्य करोड़पतिसे भी अधिक है। - ऐसे ही, गुरुदेवश्री अपने लिए तो तीर्थंकरसे भी अधिक हैं, अपना हित तो इनसे हुआ है। ५९.

❁

(द्रव्यलिंगी की भूल :) द्रव्यलिंगी होकर ग्यारह अंग तक पढ़ लेते हैं, परंतु त्रिकाली चैतन्यदल में अपनापन स्थापित नहीं करते; - यही भूल है, दूसरी कोई भूल नहीं। ६०.

❁

पू.गुरुदेवश्रीने शास्त्र पढ़ते समय कहा कि - जैसे व्यापारमें बहीके पन्ने फेरते हैं वैसे ही ये पन्ने हैं,। कोई फ़र्क़ नहीं; यदि इधरकी (ध्रुव चैतन्यकी) दृष्टि नहीं, तो दोनों समान हैं। ६१.

❁

तीर्थंकर-योग और वाणी मिली तो ठीक है, भविष्यमें भी इसी भावसे मिलेगी - ऐसे उसमें हौंस (उत्साह-रस) आता है, तो उससे कैसे छूटेगा ? लाभ मानता है तो कैसे छोड़ेगा ? इससे (ऐसे भावसे) नुकसान ही है, लाभ नहीं; लाभ तो अपनेसे ही है, वर्तमानसे ही खुदसे लाभ है; ऐसा ज़ोर न होवे तो परमें अटक जाएगा। (बहिर्मुख परिणामका रस, परिणामको अंतर्मुख होनेमें बाधक होता है, ऐसा यहाँ अभिप्राय है।) ६२.

❁

प्रश्न :- आत्मानुभव होनेके बाद ज्ञानीजीव न्याय-नीति से

धनादि की प्रवृत्ति करते हैं न ?

उत्तर :- करना-धरना नहीं रहा, जो पर्याय आनेवाली है वह योग्यतानुसार आ जाती है। परंतु उधर उसका (ज्ञानी का) लक्ष्य नहीं, लक्ष्य तो इधर का (अंतर ज्ञायकतत्त्व का) है। अंतर में एकत्व हुआ तो (स्वतः) परिणाम (विकार) मर्यादित हो जाते हैं। लेकिन मर्यादित ही होता है....होता है - ऐसा कहने से, उसकी (कहनेवाले की) दृष्टि में परिणाम को मर्यादा में रखने का ही प्रयत्न रहता है, अर्थात् परिणाम को ही (एकत्वबुद्धिपूर्वक) देखता रहता है; और परिणाम की मर्यादा को देखते रहने से अपरिणामी का ज़ोर छूट जाता है। इसीलिए कहते हैं कि जो परिणाम होनेवाला है वो हो जाता है। ६३.

तीव्र प्यास (जिज्ञासा) लगनी चाहिए। प्यास लगे तो जैसे-तैसे बुझाने का प्रयत्न किये बिना रहे ही नहीं। ६४.

प्रश्न :- अनुभव के लिए विचार-मनन-घूँटण में रहना चाहिए ?

उत्तर :- पर्याय में बैठकर (- पर्याय में 'मैं-पना' रखकर अर्थात् पर्याय में अस्तित्व की स्थापना करके) घूँटण-मनन करने में पर्याय में ठीकपना (संतोष) रहता है। और द्रव्य में बैठने से (- द्रव्य में अस्तित्व स्थापित करने से) घूँटण-मनन सहज होता है; घूँटण आदि में ज़ोर नहीं रहता, सहज होता है; ज़ोर तो इधर का (अंतर्तत्त्व का) रहता है। पर्याय में बैठकर घूँटण आदि करने से अंदर में नहीं आ सकते। ६५.

(अपने पूर्व-जीवनके बारेमें कहा :) मुझे पहलेसे इन्द्रियविषयोंकी ओरका रस नहीं था; और विकल्पोंमें कषायकी भट्ठी जलती हो - ऐसा लगता था; ऐसे वेदनमें वो क्या है....क्या है ? - ऐसे विचारोंकी धुनमें रहता था; (इतनी धुन थी, कि) मुझे शहरके खास व परिचित रास्तोंके अलावा किसी रास्ते आदिका पता नहीं है; और कोई बातका खयाल नहीं रहता था। विचारका ज़ोर पहलेसे ही था, उसमें तीक्ष्णता थी। दिगम्बरशास्त्र देखे तो इधरसे निकला और उधर क्रियाकाण्डमें पड़ा, परन्तु उसमें भी कोई शान्ति नहीं मिली, वह भी छोड़ दिया। पीछे `आत्मधर्म' देखते ही चोट लगी और सब बात खयालमें आने लगी। ६६.

❁

सब बात का मसाला गुरुदेवश्री ने तैयार कर रखा है; जिससे कोई बात बिचारनी नहीं पड़ती। नहीं तो, साधक हो फिर भी (उसे) मसाला तैयार करना पड़ता है। ६७.

❁

प्रश्न :- अनुभव होनेके बाद परिणाम में मर्यादा आ जाती है न ? विवेक हो जाता है न ?

उत्तर :- विवेक की बात एकबाजू रखो; एकदफ़ा विवेक को छोड़ दो ! (- पर्याय की सावधानी छोड़ दो !) परिणाम मात्र ही `मैं' नहीं; `मैं' तो अविचलित खूँटा हूँ; मेरे में क्षणिक अस्तित्व है ही नहीं। विवेक के बहाने भी जीव परिणाम में एकत्व करते हैं। ६८.

❁

(अज्ञानी को) कषाय की मंदता में थोड़ा विषय छूटे

तो इसमें ठीक मानने लगते हैं; लेकिन वह भी तीव्र कषाय ही है, उसमें कषाय (रस) भरा पड़ा है। ६९.

❁

प्रश्न :- शुरुआतवाले को अनुभव के लिए कैसे प्रयत्न करना ?

उत्तर :- `मैं' परिणाम मात्र नहीं हूँ; त्रिकाली-ध्रुवपने में अपनापन थाप देना (स्थापित करना) यही उपाय है। (अनादि पर्यायबुद्धि सहित मुमुक्षु जीव उपदेशबोध के अनुसार अपनी भूमिका योग्य परिणाम से प्रारंभ करता है, परंतु सर्व प्रथम पर्यायमें से अस्तित्व उठा करके द्रव्यस्वभाव में अस्तित्व स्थापित करना है - ऐसा लक्ष्य प्रारंभ से ही रहना अत्यावश्यक है, वरना पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जानेसे द्रव्यदृष्टि उत्पन्न होनी मुश्किल हो जाती है, और मुमुक्षुता में ही मनुष्य आयु पूर्ण हो जाती है और भवभ्रमण का छेद नहीं होता।) ७०.

❁

प्रश्न :- शास्त्र में तो प्रयत्न करना....प्रयत्न करना, ऐसी बात आती है ?

उत्तर :- प्रयत्न करने के लिए कहने में आता है; प्रयत्न होता भी है; लेकिन प्रयत्न भी तो पर्याय है। `मैं तो पर्याय मात्र से भिन्न हूँ', प्रयत्न क्या करें ? - सहजरूप होता है। प्रयत्न आदि का `होना' पर्याय का स्वभाव है। `मैं' उसमें न आता हूँ, न जाता हूँ; `मैं त्रिकाली हूँ' - ऐसी दृष्टि में प्रयत्न सहज होता है। ७१.

❁

विचार-मंथन भी थक जायें, शून्य हो जायें; तब अनुभव होता है। मन्थन भी तो आकुलता है। एकदम तीव्र धगश से (ज़ोर से) अन्दर में उतर जाना चाहिए। ७२.

❁

प्रश्न :- रामचंद्रजी को सीताजी के लिए लड़ने का भाव आया; परंतु धर्मराज (युधिष्ठिर) को द्रौपदी की साड़ी खींची जानेपर भी बचाने का भाव नहीं आया - इसका क्या कारण ?

उत्तर :- वह तो परिणामों की योग्यता ही ऐसी भिन्न भिन्न होती है। अनेक प्रकार के कषायभावोंमें से जो होनेवाले हैं, वो होते हैं; उनको करें - छोड़ें क्या ? सम्यग्दृष्टि को परिणाम मात्र से भिन्नता रहती है। `मैं करनेवाला ही नहीं हूँ' - ऐसा रहना खास बात है। ७३.

❁

शास्त्र में परिणाम देखने की बात आती है, तो (अज्ञानी) परिणाम देखते रहते हैं; ध्रुववस्तु रह जाती है। परिणाम को ही देखते रहने में परिणाम के साथ एकता होती है, परिणामी में एकता नहीं रहती - अनित्य में नित्य चला जाता है। पर्याय की शुद्धि ऐसी है....ऐसी है - ऐसे पर्याय की बात में रस पड़ जानेसे नित्य का ज़ोर नहीं रहता; पर्याय में ज़ोर करने की तो आदत पड़ी ही है। ७४.

❁

आखी वस्तु (प्रमाण का विषय) बताने में नित्य और अनित्य बताने में आता है; इसमें अनित्य अंग दूसरे (द्रव्य) का नहीं है, ऐसा बताने के लिए है। परंतु दृष्टि का विषय तो `नित्य

ही हूँ' है, और अनित्य मेरे से भिन्न ही है। उसका (उत्पाद-व्यय का) भाव और मेरा (ध्रुव का) भाव विरुद्ध है। ७५.

❁

शक्ति की तरफ़ देखे तो इतना भारी-भारी लगता है कि संपूर्ण जगत् फिर जावे तो भी वह (अनंत शक्तियों का पिण्ड) नहीं फिर सकता है, ऐसा घनरूप है; उसमें कुछ विचलितता ही नहीं होती। ७६.

❁

(अज्ञानी) परिणाम में बैठकर शक्ति को देखता है - `शक्ति ऐसी है....ऐसी है' उसमें तो देखनेवाला और शक्ति दो अलग-अलग चीज़ हो जाती है। जैसे दूसरा दूसरे की बात करता हो वैसा हो जाता है। (वास्तव में द्रव्यस्वभाव को देखते ही अभिन्नता होनी चाहिए; परंतु परिणाममें से एकत्व नहीं छूटने के कारण द्रव्यस्वभाव में अभेदता नहीं होती।) ७७.

❁

दर्पण में जो पर्याय दिखती है, वह तो ऊपर-ऊपर है, अंदर में जो दल पड़ा है वह तो जैसा का तैसा है, वह पर्यायरूप होता ही नहीं। - ऐसे त्रिकाली स्वभाव का दल वैसा का वैसा ही है, पर्याय में आता ही नहीं। ७८.

❁

श्रद्धा में त्रिकालीपना आ गया तो विकल्प से भिन्नता हो गई - वही मुक्ति है। चारित्र में मुक्ति हो जायेगी। ७९.

❁

प्रश्न :- वस्तुस्वभाव का लक्ष्य हो जानेपर कार्य होता ही

है ?

उत्तर :- लक्ष्य और उसका ध्येय दूसरा होनेसे वस्तु दूसरी दिखती है, अतः लक्ष्य की पर्याय से देखना नहीं है। (यथार्थ लक्ष्य में लक्ष्य करनेवाली पर्याय गौण हो जाती है।) `मैं ही स्वयं वस्तु हूँ' - ऐसे देखने से लक्ष्य की पर्याय गौण हो जाती है, तो उस पर्याय पर वज़न नहीं जाता, मुख्यता नहीं आती, उसमें मुख्यता तो त्रिकालीपने की रहती है। ८०.

❁

बस, एक ही बात है कि `मैं त्रिकाली हूँ' - ऐसे जमे रहना चाहिए। पर्याय होनेवाली हो सो योग्यतानुसार हो जाती है, `मैं' उसमें नहीं जाता। क्षयोपशम हो, न हो; याद रहे, न रहे; परंतु असंख्य प्रदेश में, प्रदेश-प्रदेश में व्यापक हो जाना चाहिए। ८१.

❁

प्रश्न :- भगवान की वाणी बहुत ज़ोरदार होगी ?

उत्तर :- वाणी में क्या ज़ोर होता है ! अपने में ज़ोर हो तो वाणी में ज़ोर का आरोप देते हैं। ८२.

❁

द्रव्यलिंगी को त्रिकाली के प्रति उत्साह नहीं आता; उत्साह आता तो `त्रिकाली' हो जाता। ८३.

❁

`कुछ करे नहीं तो गमे नहीं' ऐसी आदत (कर्ताबुद्धि) हो गयी है। लेकिन `कुछ करे तो गमे नहीं' ऐसा होना चाहिए। ८४.

❁

(आत्मा के लिए:) रुचि की आवश्यकता चाहिए। दरकार होनी चाहिए। (विकल्पों से) थकावट होनी चाहिए। तीव्र प्यास (तालवेली) लगे तो ढूँढ़े ही। ८५.

❁

जहाँ तक अंदर में (आत्मा में) डुबकी नहीं मारता, वहाँ तक प्रयत्न चालू रखना चाहिए। ८६.

❁

प्रश्न :- रुचि बढ़ते-बढ़ते वस्तु की महत्ता बढ़ती जाती है और सुगमता भी ज्यादा भासती है ?

उत्तर :- रुचि बढ़ती है, ऐसे (पर्याय के) लक्ष्य में भी पर्याय की महत्ता होती है, उसमें (पर्याय में) `मैं-पना' (अहम्पना) दिखता है तो त्रिकाली में नहीं जम सकते। - यह तो विकल्पवाली रुचि है। `मैं तो परिणाम मात्र से भिन्न हूँ' - ऐसे त्रिकाली का अनुभव होना, वो ही अभेद की रुचि है। ८७.

❁

कोई एकांत से वेदांत में खिंच नहीं जावे, इसलिए दोनों बातें बतायी हैं। पर्याय दूसरे में नहीं होती, कार्य तो पर्याय में ही होता है; ऐसा कहें तो वहाँ (पर्याय की रुचिवाले) चोंट जाते हैं - ऐसा तो है न ! ऐसा तो होना चाहिए न ! अरे भाई ! क्या होना चाहिए ? - छोड़ दे सब बातें जानने की ! `मैं तो त्रिकाली ही हूँ', उत्पाद-व्यय कुछ `मेरे' में है ही नहीं। ८८.

❁

प्रश्न :- शुरुआतवाला विचार में बैठता है तो `मैं ऐसा

हूँ, मैं ऐसा हूँ' - ऐसा करता है, तो घण्टा-आधा घण्टा में थकान लगती है, सो क्यों ?

उत्तर :- विकल्प में तो थकान लगे ही न ! `मैं ऐसा हूँ' - ऐसा अनुभव करने में शांति है। ८९.

❁

एक ही `मास्टर की' (Master key) है; सब बातों में - सभी शास्त्रों में एक ही सार है - `त्रिकालीपने में अपनापन जोड़ देना।' ९०

❁

आनंदके अनुभवमें तो रागसे भी भिन्न चैतन्य-गोला छुट्टा अकेला अनुभवमें आता है, उसके आनंदकी क्या बात करें !! अंदरसे निकलना ही गमे नहीं, बाहरमें आते ही भट्टी-भट्टी लगे। ९१.

❁

प्रश्न :- पक्के निर्णय बिना `मैं शुद्ध हूँ', `त्रिकाली हूँ', `ध्रुव हूँ', ऐसे-ऐसे अनुभव का अभ्यास करें, तो अनुभव हो सकता है क्या ?

उत्तर :- नहीं ! पक्का निर्णय नहीं, लेकिन यथार्थ निर्णय कहो। यथार्थ निर्णय होनेके बाद ही निर्णय में पक्कापन होता है, फिर अनुभव होता है। ९२.

❁

प्रश्न :- सामान्य का विचार तो ज़्यादा चले नहीं और विशेष के विचार में तो निर्विकल्पता होती नहीं ?

उत्तर :- `मैं शुद्ध हूँ' `ऐसा हूँ' - ऐसे विकल्प करने

की बात नहीं है। और विचार भी तो एक समय की पर्याय में होता है। यहाँ तो 'मैं ऐसा ही हूँ' - ऐसे त्रिकाली में अपनापन होकर, अनुभवपूर्वक परिणमन हो जाना चाहिए। विचार आदि तो पर्याय का स्वभाव होनेसे चलता ही है; परंतु ज़ोर ध्येय स्वभाव की ओर रहता है, तो परिणति त्रिकाली की और ढल जाती है। ९३.

❁

चौथा गुणस्थानवाला जीव द्रव्यलिंग धारता है फिर भी स्थिरता कम है, और पंचम गुणस्थानवाला अशुभ में विशेष हो फिर भी (चौथे गुणस्थानवाले की अपेक्षा उसकी) स्थिरता विशेष है। क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगी को शुभभाव में रस अधिक है और बाह्य उपयोग भी अधिक है; जबकि पाँचवें गुणस्थानवाला अशुभभाव में अधिक होते हुए भी (उसे) अंतर में ढ़लन अधिक रहती है। (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी के शुभभाव में अधिक है जब कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के अशुभभाव में भी विभावरस कम है। तत्त्वतः मोक्षमार्ग में शुद्धता की कमी-बेशी का नियम विभावरसपर आधारित है, न कि शुभाशुभभाव पर।) ९४.

❁

प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाले को वस्तु का अनुभव है और स्थिरता का प्रयत्न भी करता है फिर भी अनुभव में काल क्यों लगता है?

उत्तर :- चारित्र की पर्याय में इतनी अस्थिरता है, पुरुषार्थ की कमी है; पर्याय की ऐसी योग्यता है, लेकिन दृष्टि में

उसकी गौणता है। `वर्तमान में ही पूर्ण हूँ' - इसमें पर्याय की कमती - बढ़ती गौण है। ९५.

❁

अज्ञानी, पर्यायमें ही अपनापन, सन्तोष, अधिकता आदि रखते हैं। पर्यायमें उल्लास तो है न ! पर्यायमें विशेषता तो है न ! पर्यायने द्रव्यका माहात्म्य तो किया न ! पर्याय अन्तरमें तो ढलती है न ! - ऐसे-ऐसे किसी न किसी प्रकारसे पर्यायमें ही वजन रखते हैं। लेकिन पर्यायसे हटकर, `मैं तो त्रिकालीदल जैसा का तैसा हूँ, परिणाम मात्र मेरेमें नहीं है' - ऐसे ध्रुवपनेमें, अधिकता नहीं थापते। कारण कि वेदनमें तो पर्याय आती है, और द्रव्य तो अप्रकट है; अप्रकटको तो नहीं देखते हैं, पर्यायमें ही अपनापन रखते हैं।

लेकिन, यहाँ तो कोई भी पर्याय हो - सुख अनन्त हो या ज्ञान अनन्त हो या वीर्य अनन्त हो तो भी `मुझे' कुछ परवाह नहीं, `मैं' तो स्वभावसे सुखस्वरूप ही हूँ। - ऐसे ध्रुव स्वभावमें ही अधिकपनेका वेदन करनेका है और शुद्धपर्यायोंको भी गौण करना है - गौणपने वेदन करना है। ध्रुववस्तुमें `मैं-पना' स्थापित किये बिना, पर्यायसे एकत्व नहीं छूट सकता। ९६.

❁

इस अपेक्षा से नित्य हूँ, इस अपेक्षा से अनित्य हूँ, ऐसे दोनों ही ठीक हैं - ऐसे (अज्ञानी) कहते हैं। अरे ! `मैं नित्य ही हूँ'- ऐसा ज़ोर देना तो भूल गया ! तो क्या रहा ? - अनादि का जो था वो ही रहा। ९७.

❁

विचार-मनन से वस्तु प्राप्त नहीं होती है। (अनुभव नहीं होता है) क्योंकि ये पर्यायें बहिर्मुखी, मन के संगवाली हैं; वस्तु अंतर्मुख-ध्रुव है। ९८.

❁

चैतन्यदल में - असंख्य प्रदेश में प्रसर जानेसे पर्याय दिखती ही नहीं है; (अर्थात्) ऐसी पर्याय को छोड़कर... ऐसी पर्याय करुँ - ऐसा नहीं होता। पर्याय में साम्यभाव आ जाता है। ९९.

❁

प्रश्न :- ``किसी जीव के अलावा, सामान्यतः सभी जीवों को मार्ग के क्रम का सेवन करना पड़ता है'' (- श्रीमद् राजचंद्रजी का बोल)। - इसमें क्या कहना है ?

उत्तर :- क्या क्रम ? (हँसते-हँसते) कोई जीव सीधा अनुभव करके वस्तु को पकड़ लेता है; और बहुत से जीवों की परिणति चञ्चल होती है, इसलिए धीरे-धीरे शास्त्र आदि में रुकते-रुकते इधर (अंतर में) ढलते हैं; इसे क्रम का सेवन कहा। १००.

❁

भगवानकी वाणी सुननेमें (सुननेके लक्ष्यमें) अपना नाश होता है। जैसे स्त्रीका विषय है वैसे यह भी विषय है। (-परलक्ष्यी सभी भाव, विषयभावके समान ही हैं; क्योंकि परमार्थसे तो परलक्ष्य होनेमें आत्म-गुणका घात ही होता है।) १०१.

❁

असल में बात तो यह है कि सुनने में जो माहात्म्य आता है - वह नहीं, किन्तु अन्दर से सहजरूप से (स्व का)

माहात्म्य आना चाहिए। (बाहर में) तीव्र थकावट हो तो माहात्म्य अन्दर से ही आता है। १०२.

❁

अपरिणामी में सदा ज़ोर आना चाहिए। परिणाम में विकल्प से हटने का और आह्लादरूप अनुभव में जानेका भाव होता है, लेकिन अधिकता इसमें नहीं; अधिकता तो त्रिकाली में ही रहनी चाहिए। १०३.

❁

श्रवण-वांचन आदि तो सब ऊपर-ऊपर की बातें हैं; अंदरमें से सहजरूप (भाव) आना चाहिए। १०४.

❁

यहाँ तो दातार हो जानेकी बात है। यहाँ से (दूसरे उपदेशदाता से) ले लूँ, ऐसी बात ही नहीं। एकबार लाभ मिला तो दूसरी बार भी लाभ मिल जायेगा, यह प्रत्यक्ष लाभ मिल रहा है न...ऐसे-ऐसे करके (अज्ञानी) उसमें ही रुक जाता है। अंदर के दातार की बात तो रही नाम मात्र, और बाहर के दातार की मुख्यता !! १०५.

❁

शास्त्रमें बात आए कि बर्फ़के संयोगसे पानी ज़्यादा ठण्ड़ा होता है; ऐसे अधिक गुणवानके संगमें रहनेसे ज्यादा लाभ होता है - ऐसा सुननेपर, वहाँ अज्ञानी चौंट जाता है;... असंगकी बात छोड़ दी ! गुणहीनका संग छोड़कर गुणवानका संग किया, परन्तु असंगता रह गयी। (असंगताका अभिप्राय रखकर ही सत्संगमें रहना योग्य है।) १०६.

❁

शास्त्रों में अनेक तरह के कथन आते हैं तो अज्ञानी इनमें उलझ जाता है। लेकिन `निश्चय की बात मुख्य करके, निमित्त का ज्ञान करने का है' यह भूल जाता है। क्योंकि अनादि से संग का अभ्यास है न ! इससे एक संग (अशुभ) छोड़कर, दूसरा संग (शुभको) पकड़ लेता है। १०७.

❁

अनुभव की बात तो क्या कहें !! एक दफ़ा तो बिजली के करंट के माफ़िक अंदर में उतर जाना चाहिए। जैसे करंट का काल थोड़ा, फिर भी सारा शरीर झनझना उठता है; उसी तरह असंख्य प्रदेश में आनंद-आनंद हो जाता है। पीछे शुभाशुभ विकल्प आते हैं, परंतु अनुभवमें से छूटना न चाहे तो भी छूट जाते हैं। छूट जाए तो छूटो...मगर `मैं तो यह (त्रिकाली आत्मा) ही हूँ। १०८.

❁

सब शास्त्र पढ़ लेवें, तो भी अनुभव बिना उसका भाव ख़यालमें नहीं आता। `सब अपेक्षा तो जान लेवें,' ऐसे (अज्ञानी) उसमें (जानपनेमें) ही फँस जाते हैं। १०९.

❁

त्रिकाली का ज़ोर नहीं तो क्षणिक शुभाशुभ में पूरा का पूरा चला जाता है - क्षणिक दुःख आया तो त्रिकाली दुःख मानने लगे, क्षणिक सुख आया तो त्रिकाली सुख मानने लगे। और जो त्रिकाली में अपनापन हुआ तो क्षणिक पर्याय जो योग्यतानुसार होनेवाली है वह हो....`मैं' उसमें नहीं खिसकता। ११०.

❁

[ज्ञाता-दृष्टाका स्वरूप बताते हुए कहा :] निर्विकल्प अनुभव होते ही ज्ञातादृष्टा हो सकता है। [सिर्फ] ऐसे विकल्पसे ज्ञाता मानकर, होनेवाला था सो हुआ, - ऐसा मानकर [-ऐसे] समाधानमें (जो) सुख मानते हैं; वह (सुख) तो जैसा : अघोरी मांस खानेमें, सूअर विष्टा खानेमें, पतंगा दीपकमें सुख मानता है, - वैसा है। निर्विकल्प अनुभव बिना धारणामें ठीक मानना, सुख मानना, यह तो कल्पना मात्र है; वास्तविक सुख नहीं। १११.

❁

पूज्य गुरुदेवश्री ने इतना स्पष्ट कर दिया है कि कमी नहीं है, सूक्ष्म पहलुओं का भी पूरा-पूरा ख़ुलासा (- मार्ग का रहस्य खुला) किया है। (परमार्थ-परम पदार्थ को सम्यक् प्रकार से दर्शाया है।) ११२.

❁

योग्यता हो तो सुनते ही सीधे अंदर में उतर जाते हैं, इसलिए कहते हैं कि `ऐसी उनकी काललब्धि'। तो अज्ञानी कहता है कि अरे, पुरुषार्थ को उड़ा दिया ! पर, अरे भाई ! पुरुषार्थ इससे जुदा थोड़े ही है ? ! कोई स्वच्छंता न कर लेवे, इसलिए `पुरुषार्थ करना' ऐसा कहा है। त्रिकाली में अपनापन होने में पुरुषार्थ होता ही है। लेकिन यह (ऐसा पुरुषार्थ कि) पर्याय जितना `मैं' नहीं हूँ, `मैं तो त्रिकालीदल ही हूँ।' ११३.

❁

जो निर्विकल्पता होती है उसमें तो पूरा जगत्, देह, विकल्प, उघाड़ (क्षयोपशम ज्ञान) आदि कुछ दिखता ही नहीं; एक ख़ुद ही ख़ुद दिखता है। अंदर में जाए तो बाहर का कुछ दिखे

ही नहीं। ११४.

❁

अरे भाई ! तू अपने सारे के सारे असंख्य प्रदेश में चैतन्यमूर्ति हो, उसीमें बैठे रहो न ! उठकर कहाँ जाते हो? ११५.

❁

'शास्त्र से ज्ञान नहीं होता' ऐसा सुने और 'बराबर है' ऐसा कहे, परंतु अंदर में (अभिप्राय में) तो ऐसा मानता है कि बाहर से (शास्त्र आदि से) ज्ञान आता है। 'वाणी से लाभ नहीं' ऐसा कहे, लेकिन मान्यता में सुनने से प्रत्यक्ष लाभ होता दिखे तो थोड़ा तो सुन लूँ, इसमें क्या नुकसान ? (- ऐसे भ्रम में अज्ञानी रहता है।) अरे भैया ! इसमें नुकसान ही होता है, लाभ नहीं। ऊपर से नुकसान कहे और अंदर में लाभ मानकर प्रवर्ते, यह कैसी बात ! अज्ञानी उसमें अटक जाते हैं। ११६.

❁

प्रश्न : रुचि क्यों नहीं होती ?

उत्तर : ज़रूरत दिखे तो अंदर में आए बिना रहे ही नहीं। सुनते हैं (उसमें) प्रसन्नता आदि होती है, लेकिन सुख की ज़रूरत हो तो अंदर आवे। ज़रूरत न हो तो वहाँ (प्रसन्नता आदि में) ही ठीक माने; लाभ है, नुकसान तो नहीं न ! (-ऐसा भाव रह जाता है।) ११७.

❁

विकल्प की भूमिका में भी (जिसको) निर्णय नहीं होता,

उसको निर्विकल्प निर्णय होने का अवकाश ही कहाँ है ? ११८.

❁

(खुदका परिणाम बताते हुए कहा :) इ...त...नी लगनी रहती है कि मैं कब एकान्तमें बैठूँ....एकान्तमें बैठनेकी लगन रहती है; फिर भी एकान्त नहीं मिले तो वैसे ही अन्दरमें एकान्त बना लेता हूँ। एकान्त न मिले तो इसके लिए तड़पता नहीं (आकुलित नहीं होता)। (अंगत) ११९.

❁

जैनदर्शन ही एक ऐसा है कि जो वीतराग होनेसे दूसरे को अपने समान बना लेता है, यह इसकी मूल विशेषता है। दूसरे मतवाले शिष्य को बहुत कुछ दे देवें, किन्तु पूरा तो नहीं देते, क्योंकि वे कषाययुक्त हैं। १२०.

❁

प्रश्न :- द्रव्यलिंगी इतना स्पष्ट जानकर (भी) क्यों त्रिकाली में अपनापन नहीं करता ?

उत्तर :- उसको सुख की ज़रूरत नहीं है; क्योंकि उसको एक समय की उघाड़-पर्याय में संतोष है, सुख लगता है; तो त्रिकाली को क्यों पकड़े ? (जिसको वर्तमान पर्याय में संतोष होता है, उसको दर्शनमोह तीव्र होता है। और जहाँ संतोष होता है वहाँ ही अटकना होता है, वहाँ दुःख भी नहीं लगता। अतः ऐसी स्थिति में त्रिकाली स्वभाव के प्रति पुरुषार्थ नहीं होता है।) १२१.

❁

असलमें तो (मिथ्यात्व में) तीव्र दुःख लगना चाहिए। जो

तीव्र दुःख लगे तो सच्चे सुख बिना संतोष हो नहीं सकता। दुःख की वेदना, सुख को शोधे बिना रहती ही नहीं। १२२.

❁

(खुद के परिणाम बताते हुए कहा -) निर्विकल्प आनंद की तो बात क्या करे !! विकल्प के समय में भी सुख और शांति तो बढ़ती ही रहती है फिर भी, निर्विकल्प आनंद तो इससे भी बहुत ऊँचे दर्जे का है; इस आनंदमें से छूटने से तो इतना दुःख ही दुःख होता है कि जैसे बर्फ में पड़ा हुआ बर्फ से छूटकर अग्नि में प्रवेश करे तो जैसा दुःख होता है, वैसा निर्विकल्पमें से निकलनेपर होता है। (- इसीसे) तो निर्विकल्पमें जाने की लगन रहती है। १२३. (अंगत)

❁

आखिर कितना भी सुन लो, लेकिन सुख तो यहाँसे (अन्तरमें से) ही शुरू होता है। (सुनते ही प्रयास चालू होवे, वह पात्रताका लक्षण है) यह थोड़ा सुन तो लूँ... इसमें क्या नुकसान है ? .... पीछे अन्दरमें जाऊँगा, (- इस प्रकारके परिणाममें स्वभावकी अरुचि है)। यह बात ठीक नहीं है; और एक समयकी ज्ञानपर्यायमें विचार कर-करके भी क्या मिलेगा ? त्रिकालीकी ओर ज़ौर देनेसे ही क्षणिक पर्यायकी एकता छूटकर सुख मिलेगा। १२४.

❁

प्रश्न :- वर्तमान ज्ञानवेदन ख़याल में आता है वैसे त्रिकाली सत् ख़याल में क्यों नहीं आता है ? उघाड़ में तो युक्ति आदि से आता है लेकिन अंदर से ख़याल में क्यों नहीं आता ?

उत्तर :- जो उघाड़ में न्याय से ख़याल में आया, तो

(वो) ख़यालवाली ज्ञानपर्याय भी तो कोई आधार पर खड़ी है; - तो वह आधारवाली वस्तु क्या है ? - ऐसे देखकर, उस आधारवाली शक्ति में ही थँम जाना-प्रसर जाना, वो ही सत् स्वभाव है। (त्रिकाली स्वरूपमात्र ख़याल में लेना है - ऐसा अभिप्राय नहीं रखकरके, अंतर में त्रिकाली आधारभूत शक्ति को स्वयं के रूप में देखने का प्रयास करना चाहिए। जिससे सहज स्थिरता होगी।) १२५.

❁

ये (चार) गतियों की बात तो बहुत स्थूल है। यहाँ तो `सिद्ध-गति और सिद्ध-पर्याय से भी अधिक में (ध्रुव में) अपनापन करने की बात है।' १२६.

❁

प्रश्न :- पर्याय से छूटें कैसे ?

उत्तर :- पर्याय से तो छूटे हुए ही हैं। `त्रिकाली' तो पर्याय में आता ही नहीं। लेकिन पर्याय में एकता कर रखी है - वह एकता, त्रिकाली में थापने की है। १२७.

❁

ज्ञानी को तो त्रिकाल में ही अपनापन होनेसे (उसे) वांचन, श्रवण, पूजन आदिमें भी अंदर से (शुद्धि की) वृद्धि होती रहती है। १२८.

❁

देव, गुरु आदि निमित्तों का सांसारिक विषयों की अपेक्षा से फ़र्क है; क्योंकि सांसारिकविषय तो अपनी ओर झुकने को कहते हैं; और देवादिक निमित्त, अपनी ओर के झुकाव का

निषेध करके स्वात्मा की ओर झुक जावो - ऐसा कहते हैं। इसलिए देवादिक निमित्तों में फ़र्क़ कहने में आता है। लेकिन जो जीव, अपनी ओर नहीं झुकता है और देवादिक की ओर ही झुके रहता है, उसने तो सांसारिक विषयों की तरह ही इन्हें भी विषय बना लिया; (इस कारण से) तो कोई फ़र्क़ रहा नहीं। १२९.

❁

जब मुनिगण अपने लिए अपनी शास्त्रमें रमती हुई बुद्धिको व्यभिचारिणी मानते हैं, तो नीचेवालोंकी तो व्यभिचारिणीबुद्धि है ही। इसपर भी (अज्ञानी) जीव यहाँ ऐसे लेते हैं कि - मुनिगण तो अपने लिए बुद्धि व्यभिचारिणी मानें वह तो ठीक है; परन्तु अपन तो थोड़ी शक्तिवाले हैं, अपनेको तो शास्त्रादिका अवलम्बन लेना चाहिए ही - ऐसे ओथ (आधार) लेकर, वहाँ सन्तोष मानकर, अटक जाते हैं। `पहलेमें पहला तो त्रिकालीमें प्रसर जानेका है' यही सर्व प्रथम कर्तव्य है। (शास्त्रमें उपयोग लगाते समय भी यह अभिप्राय होना चाहिए। शास्त्रका अवलम्बन लेने का अभिप्राय तो नहीं होना चाहिए।) १३०.

❁

एक समय की पर्याय में ही तो वेदन आता है; शक्ति में तो वेदन है नहीं। इसलिए यह वेदन ही प्रसिद्ध होनेसे, उसको ही अज्ञानी `आत्मा' मान लेता है। वास्तव में तो (`नित्य स्वरूप') `आत्मा' क्षणिक पर्याय में जाता ही नहीं, वैसा का वैसा ही त्रिकाल रहता है। - उसीमें अपनापन हुए बिना सुख - शांति हो नहीं सकती। १३१.

❁

गुरुदेवश्री के उपदेश में इतना ख़ुलासा है कि इस नीवँ से धर्म पंचमकाल तक टिकेगा, ऐसा दिखता है। १३२.

❁

परिणाम में बैठकर (त्रिकाली) वस्तु को देखने से वस्तु भिन्न दिखती है। इसलिए परिणाम से भिन्न होनेके लिए वस्तु में बैठकर देखना है, तभी वस्तु में अपनापन (एकत्व) होनेसे पर्याय का कार्य भिन्न दिखने लगेगा; और (- ऐसी) भिन्नता दिखने से पर्याय का नाश होते हुए भी (द्रव्य में) अपनापन तो त्रिकाल ही रहता है; तभी तो पर्याय के नाश होनेसे आकुलता नहीं होगी; और इधर में (त्रिकाली में) बैठने से सुख-शांति बढ़ेगी। १३३.

❁

असल में तीव्र दुःख (मिथ्यात्व का) लगे, तो सुख मिलता ही है। विकल्प में इतना (तीव्र) दुःख ही दुःख लगे तभी सुख की ओर जाते हैं, तो सुख मिलता है। १३४.

❁

मुझे तो `ये षट् आवश्यक नहीं, लेकिन एक ही (अन्तर्मुख होना ही) आवश्यक है' वह पढकर इतना आनन्द हुआ था कि वह मुझे स्पष्ट याद है ! १३५. (अंगत)

❁

पूज्य गुरुदेवश्री ने वस्तु-स्वभाव कितना स्पष्ट कर दिया है ! वह तो पका-पकाया हलवा है; अपन तो सीधा खाते हैं, नहीं तो हमारी तो शास्त्रमें से निकालने की इतनी शक्ति नहीं है। १३६.

❁

`एक समयकी ज्ञानपर्याय स्वतन्त्र है, (उसमें) पूर्वपर्याय भी कारण नहीं; उसमें तीन कालके पदार्थ जाननेकी ताकत है' - ऐसा सुनकर मुझे तो ऐसी चोट लगी कि तबसे मेरा पढ़ना कम हो गया। ...चलो न ! पर्यायका स्वभाव ही जाननेका है... तो सहज जाननेमें आ जाएगा, (जाननेके लिए) आकुलता क्यों करे !... यहाँ (अन्तरमें) सुख पीवो न !... न्याय आदि नक्की करनेमें (विकल्प वृद्धि होनेसे) आकुलता होती है... अपनेको तो सुख चाहिए। १३७.

असलमें बात यह है कि सबकी सब धारणा तो (अज्ञानी भी) सच्ची कर लेता है, परंतु पर्याय में बैठकर (अहंभाव रखकर) द्रव्य को देखता है, तो द्रव्य जुदा का जुदा पड़ा रहता है। पर्याय में बैठकर द्रव्य को नहीं देखना है, किन्तु द्रव्य में बैठकर द्रव्य को देखना है, तो द्रव्य में अपनापना प्रसर जाता है (- अभेदता होती है।) पर्याय में बैठने से (- एकता करने से) द्रव्य तो दूर ही पड़ा रहता है। १३८.

गुरुदेवश्रीकी सिंहगर्जना ऐसी है कि दूसरे को निर्भय बना देती है। वहीं जंगलके सिंहकी गर्जना तो दूसरेको भयाकुल बनाती है - दोनोंमें बहुत फ़र्क़ है। १३९.

थोड़ा यह तो कर लूँ... यह तो जान लूँ... सुन तो लूँ - यह सब (अभिप्राय) अटकनेका रास्ता है। (अपने) असंख्य प्रदेशमें प्रसरकर, पूरे का पूरा व्यापक होकर, तन्मय रहो न !... सुख

शान्ति बढ़ती जाएगी, विकल्पादि टूटते जायेंगे। १४०.

❁

भूख-प्यास लगे तो उसको बुझाये बिना चैन नहीं पड़ता। ऐसे, जो विकल्प में दुःख ही दुःख लगे तो सुख शोध ही लेवे, उसके बिना चैन ही न पड़े; ऐसा ही स्वभाव है। १४१.

❁

प्रश्न :- विकल्प में दुःख ही दुःख लगे - ऐसा जो कहा, तो यह तो नास्तिपक्ष में गया ?

उत्तर :- नास्ति भी द्रव्य की अपेक्षा से है; बाकी तो उस (पर्याय) अंश में दुःख निकलकर सुख प्रकट होता है। और ऐसा दुःख लगे तभी तो द्रव्य की ओर आएगा। १४२.

❁

प्रश्न :- त्रिकाली में प्रसरने में ज्ञान कारण है या दृष्टि कारण है ?

उत्तर :- मुख्यतौर से तो (ज्ञानी को) दृष्टि ही कारण है, फिर ज्ञान को भी कहते हैं; दोनों साथ में ही हैं। दृष्टि प्रसर जाती है तो ज्ञान भी हो जाता है।

प्रश्न :- दृष्टि तो जानती नहीं ! ज्ञान ही जानता है ?

उत्तर :- इस अपेक्षा से (स्वलक्ष्यी) ज्ञान को भी कारण कहते हैं। परंतु, यथार्थ में तो ऐसे ग्यारह अंगवाले को (परलक्ष्यी) ज्ञान तो हो जाता है, दृष्टि नहीं होती। - इसीसे यथार्थ में तो दृष्टि को ही कारण कहते हैं। (यहाँ स्वरूप में एकाग्रता होनेके विषय के प्रश्न का स्पष्टीकरण दिया है। परंतु श्रद्धाज्ञान के होनेके विषय में स्पष्टीकरण नहीं समझना चाहिए। क्योंकि

ज्ञानपूर्वक ही श्रद्धान होता है यह त्रिकाली-अटल सिद्धांत है।) १४३.

❁

निर्विकल्प ध्यानके पहले अनेक प्रकारका चिंतन घण्टों तक चले फिर भी वह निर्विकल्पताका कारण नहीं है, वह तो अटकाव है। निर्विकल्पता तो अन्दरमें उग्र अवलम्बनसे ही होती है। विचाररूप ध्यान तो रुकावट है,... होता है... आ जाता है... लेकिन, वह अवलम्बन नहीं है। अवलम्बन तो अन्दरमें लिया हुआ है, उसमें ही उग्रता होनेपर निर्विकल्पता होती है। यदि अटकावरूप विचार आदिको कारण माना जाए तो विचारसे छूटकर अन्दर आ नहीं सकते। (- इन्हें) अटकाव माननेपर ही अन्दर आ सकते हैं। मन्द शक्तिवश पर्यायमें अनेक तरहका विचार चलता है, उसमें उल्लास भी होता है, किन्तु ऐसा चिंतन आदि कारण नहीं, बल्कि अटकाव ही है। १४४.

❁

प्रश्न :- परिणाम अंदर में जमते नहीं, बाहर क्यों दौड़ते हैं ?

उत्तर :- बछड़े को बाँधें नहीं तो बाहर चरने लगता है; यदि खूँटे में बाँध दें तो फिरा तो करे, परंतु वहाँ से बाहर नहीं जा सकता है। - ऐसे ध्रुव में पर्याय को बाँध देवें तो पर्याय ध्रुव में ही फिरा करेगी, बाहर नहीं जाएगी। फिरना तो उसका (पर्याय का) स्वभाव है; लेकिन ध्रुव-खूँटे में ही फिरेगी, और सुख मिलता रहेगा। १४५.

❁

अपने को तो सुख पीने की अधिकता रहती है, जानने की नहीं। और खरेखर तो विकल्प से जो जानते हैं सो तो सच्चा जानना ही नहीं है; अंदर में अभेदता से जो सहज जानना होता है वही सच्चा ज्ञान है। परसत्तावलंबी ज्ञान को तो हेय कहा है न ! शिवभूतिमुनि विशेष जानते नहीं थे फिर भी अंदर में सुख पीते-पीते उनको केवलज्ञान हो गया। १४६.

❁

देव, शास्त्र, गुरु, श्रवण, विचार, वांचन, मनन, उघाड़ और एक समयकी पूर्व-उत्तर पर्याय जो-जो साधनरूप कहनेमें आता है - वह सब (निश्चयसे) बाधकरूप है। - ऐसा नहीं माने, तब-तक तो त्रिकालीमें आ नहीं सकते। ऊपर-ऊपरसे बाधकरूप कहे और अन्दरमें साधनरूप मानता रहे, तो वहाँ ही झुकाव रहा करेगा, त्रिकालीमें नहीं आ सकेगा। १४७.

❁

पहले तो यह बात नक्की कर लो कि सुननेसे ज्ञान नहीं होता; सामान्यसे [- सामान्य स्वभावके आश्रयसे] ही ज्ञान होगा। फिर भी सुननेका विकल्प उठे तो उसमें खेद होना चाहिए। `मैं' तो वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ, वर्तमानसे ही `मुझे' कुछ करना नहीं है। परिणाममें पुरुषार्थ सहज होता है। करुँ...करुँ... यह तो आकुलता है, बोझा है। १४८.

❁

यहाँ तो परिणाम मात्र को व्यवहार कहते हैं। मोक्ष और मोक्षमार्ग सब व्यवहार है। `मैं तो अक्रिय ध्रुव तत्त्व हूँ।' १४९.

अपना सुख देखा नहीं, इसलिए किसके साथ मिलान करे

कि - यह देव-गुरु आश्रित वृत्ति भी दुःख है; (अज्ञानी ने) इसीलिए एकांत दुःख को सुख मान लिया है। १५०.

❁

वस्तु-स्वरूप जैसा है वैसा ही है; तो फिर अपेक्षा लगाकर ढीला थोड़े ही हो सकता है ? १५१.

❁

अपने द्रव्यमें एकत्व किए बिना, रागसे और शरीरसे भिन्नता नहीं हो सकती; भले ही `भिन्न है.... भिन्न है' ऐसा कहे। लेकिन अपने द्रव्यमें एकत्व होते ही सहज भिन्नता हो जाती है, विकल्प उठाना नहीं पड़ता; सहज ही भिन्नता रहती है। १५२.

❁

प्रश्न :- अधिक गुणीका बहुमान करना कि नहीं ?

उत्तर :- अभिप्राय तो दूसरेका बहुमान करनेका होवे ही नहीं; और खिँचावके कारण बहुमान आजाए तो उसे दीनता माननी चाहिए, उसका भी खेद होना चाहिए। १५३.

❁

देव-गुरुके प्रति जो मचक होती है वह भी नपुंसकता है; और अभिप्रायमें मचक होवे तो (अनन्तानुबन्धी कषायके कारण) वह अनन्ती नपुंसकता है। १५४.

❁

(शास्त्र में) मुनि के लिए ऐसा कहा है कि - यदि अन्य मुनि बीमार हो तो वैयावृत्य करना। - वह तो विकल्प होवे तो ऐसा होवे, उसकी बात है। `अपने में एकाग्र हो' तो प्रथम तो वही कर्तव्य है `विकल्प' कर्तव्य नहीं। १५५.

❁

अधिक पुण्य - वह तो विष्टा का बड़ा ढ़ेर है। १५६.

❁

केवलज्ञान की पर्याय भी जब उपेक्षणीय है (दृष्टि का विषय नहीं); तब फिर क्षयोपशमज्ञान की तो बात ही क्या ? (द्रव्यदृष्टि किसी भी - केवलज्ञान तककी - पर्याय को विषय नहीं करती। तब छद्मस्थ साधक को अपनी क्षयोपशमज्ञान की पर्याय की प्रधानता किसी भी हालत में, अर्थात् ज्ञान की निर्मलता व विशालता कितनी भी क्यों न हो उसकी मुख्यता, आनी ही नहीं चाहिए।) १५७.

❁

कोई भी कथन समझनेके लिए यदि (वक्ताके) अभिप्रायको छोड़कर अर्थ करने जाएगा तो अर्थ गलत ही होगा। १५८.

❁

शुभराग को कर्तव्य मानने की तो बात ही कहाँ ? `मेरा' तो कोई कर्तव्य ही नहीं, ऐसा पहले पक्का होना चाहिए। (ध्रुव में कर्तव्य कैसे हो सकता है ? `मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ।') १५९.

❁

पहले विकल्पात्मकता में तो यह निर्णय कर लो कि, परिणाम की अपेक्षा से इधर (अंतर में) ही जमने का है; दूसरा कुछ भी करने का नहीं है। - ऐसे विकल्पात्मक निर्णय का भी अवलंबन नहीं होना चाहिए। और `मैं तो अपरिणामी हूँ, परिणाम में जाता ही नहीं' - ऐसा अभ्यास होनेपर दृष्टि जम जायेगी। (विकल्पात्मक निर्णय सही होते हुए भी निर्णयरूप परिणाम की मुख्यता नहीं होनी चाहिए; परंतु अपरिणामी निजस्वरूप के प्रति

पुरुषार्थ तीव्र होना चाहिए। निर्णय या समझ यथार्थ होनेसे ऐसे यथार्थ परिणाम पर वज़न रह जाता है तो वह भी ध्रुव स्वभाव के अवलंबन लेने हेतु प्रतिकूल है।) १६०.

❁

इधर (स्वद्रव्य में) दृष्टि जम गयी.... बस, वही मुक्ति है; मुक्ति करनी नहीं है। १६१.

❁

दूसरी सब जगहोंसे छूटा; परन्तु इधर आया तो देव-गुरुको चौंटा... यहाँसे ज़रूर होगा। - वह तो वैसा का वैसा ही हुआ, सिर्फ़ नई दुकान चालू की - मात्र निमित्त ही बदला। १६२.

❁

चाहे जैसी बात व कितनी ही बार कहने में आवे लेकिन `त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए'। कथन चाहे जैसा आवे, परन्तु यह बात कायम रख करके ही अन्य सब बाते हैं - त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए। १६३.

❁

देवकी ओर देखो तो देव यह कहते हैं कि - मैं तुमारी सन्मुख नहीं देखता हूँ, और तुम भी मेरी सन्मुख मत देखो, अपनी सन्मुख देखो ! १६४.

❁

षट्आवश्यक कहे जाते हैं, परंतु वास्तव में तो ये अनावश्यक हैं। (श्रावक की भूमिका में) विकल्प आता है तो वह किस

प्रकार का आता है - ऐसा बताने के लिए कहने में आता है। वास्तव में तो उसमें भी खेद और दुःख लगता है; स्वभावसुख में जमते ही विकल्प की आकुलता भासती है कि - ये आवश्यक आदि भी दुःख भाव हैं, (तो) ये उपादेय कैसे ? १६५.

❁

शुद्ध जीवास्तिकाय की दृष्टि बिना, शास्त्र में जो कथन आते हैं उनकी कितनी हद तक मर्यादा है ? - वह समझ में नहीं आता। और दृष्टि होनेपर ज्ञान में सहज ही सब बातें समझ में आ जाती हैं। १६६.

❁

सर्वार्थसिद्धि के देव ३३-३३ सागर तक चिंतन-मनन करते हैं फिर भी केवलज्ञान नहीं होता; और इधर अंतर्मुहूर्त एकाग्रता होनेपर केवलज्ञान हो जाता है। जानने से (जानपने से) प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती; लीनता से सिद्धि होती है। (मोक्षमार्ग में प्रयोजन की सिद्धि में मात्र पुरुषार्थ का ही अधिकार है। ज्ञान की विशालता और सूक्ष्मता पुरुषार्थ का कारण नहीं होती। किन्तु ज्ञान की स्वरूपग्रहणशक्ति जितनी बढ़ती है उतना ही पुरुषार्थ साथ साथ बढ़ता है।) १६७.

❁

जिसकी जो रुचि होती है उसको उसी रस की मुख्यता होती है; इसीसे मरण-समय भी उसी रस की उग्रता हो जाती है। १६८.

❁

अशुद्धपर्याय (अंश) का मुख बाहर की ओर है; और शुद्धपर्याय

(अंश) का मुख अपनी ओर है; दोनों के मुँह की दिशा विरुद्ध है, इसीसे वे सहज ही भिन्न दिखते हैं। १६९.

❁

यहाँ तो महाराजसाहब ने भूमिका तैयार कर दी है; बस ! अब तो थोड़ा-सा सुख का बीज बो देना.... जिससे महा आनंद होवे। १७०.

❁

प्रश्न :- उपयोग को अंदर में वालने की (अंतर्मुख करने की) बात है न ?

उत्तर :- इसमें भी उपयोग में (- पर्याय में) अपनापन, और अपनी ध्रुववस्तु में परायापन हो जाता है। `उपयोग `मेरी' ओर आएगा' - ऐसा होना चाहिए। १७१.

❁

फूल बागमें हो या जंगलमें; उसको कोई सूँघो या न सूँघो; उसकी क़ीमत तो स्वयंसे है; कोई सूँघे तो उसकी क़ीमत बढ नहीं जाती, अथवा नहीं सूँघे तो वह कुम्हला नहीं जाता - इसी तरहसे कोई अपनेको जाने या न जाने उससे अपना मूल्य थोड़ा ही है ? अपना मूल्य तो अपनेसे ही है। कोई मान-सन्मान देवे, न देवे - सब धूल ही धूल है, उसमें कुछ नहीं है। १७२.

❁

पूज्य गुरुदेवश्री अपने लिए तो अनन्त तीर्थंकरसे अधिक हैं, क्योंकि अपना कार्य होनेमें निमित्त हुए - इसीलिए।

दूसरा, उन्होंने यह बताया कि, भैया ! `तुम सिद्ध तो

क्या ?... सिद्धसे भी अधिक हो, अनन्त सिद्ध-पर्यायें जहाँसे सदैव निकलती रहें, ऐसे तुम हो।' - ऐसा उत्कृष्ट वाच्य पूज्य गुरुदेवश्रीने बतलाया ! १७३.

❁

द्रव्य की सलामती देखते...पर्याय भी सलामत हो जाती है। १७४.

❁

प्रश्नः- ज्ञान तो करना चाहिए न ?

उत्तर :- अरे भाई ! ज्ञान अपना स्वभाव है कि नहीं ? - स्वभाव है तो ज्ञान तो होता ही है; `करना चाहिए' - इसमें तो वज़न पर्यायपर चला जाता है और अक्रिय सारा पड़ा रह जाता है।

`मैं वर्तमान में ही अक्रिय हूँ, कुछ करना ही नहीं है' - ऐसी दृष्टि होनेपर, ज्ञान-क्रिया सहज उत्पन्न होती है। जानने आदि का विकल्प भी आता है, परंतु इस पर वज़न नहीं जाना चाहिए; यह सब गौण रहना चाहिए। १७५.

❁

अपनी कार्य-सीमा परिणाम तक ही है, उससे आगे नहीं जा सकते हैं। लड्डू आदि भोग ही नहीं सकते; लेकिन जो थोड़ी-सी मचकसे राग होता है, वह तो मुझे सहज सुख के आगे विष-तुल्य लगता है। १७६.

❁

कोई तो धारणा कर लेते हैं; कोई धारणा करके रटन करते हैं; लेकिन भाई ! धारणा करके क्या तेरे को किसीको

दिखाना है कि `मैं जानकार हूँ' ?

प्रश्न :- लेकिन अपने स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक निर्णय के लिए तो धारणा चाहिए न !

उत्तर :- धारणा सहज होती है। `मैं धारणा कर लूँ' - यह तो बोझा उठाना है। धारणा के ऊपर जो वज़न ही नहीं आना चाहिए। धारणा होनी तो चाहिए न ! - ऐसा वज़न नहीं होना चाहिए; सहज हो तो हो। (स्वरूप की प्राप्ति के लिए विधि-विषयक जानकारी की धारणा होती है, फिर भी ऐसी सही धारणापर वज़न जानेवाले के अभिप्राय में पर्याय का आश्रय करने का अभिप्राय जो अनादि से है वह चालू रह जाता है और वह अंतर्मुखता होनेमें बाधक कारण बन जाता है।) १७७.

❁

प्रश्न :- चिंतन करना (चाहिए) क्या ?

उत्तर :- चिंतन भी भट्टी-सा लगना चाहिए; वह भी दुःखभाव लगे तो वहाँसे हट सकेंगे, नहीं तो वहाँसे क्यों खिसकेंगे ? मार्ग में आता है तो ठीक; किन्तु उसको दुःखभाव जानना, उसमें एकत्व नहीं करना। चिंतन भी चिंता है, आकुलता है। `चिंतन जहाँसे उठता है.... उस भूमिमें जमे रहो।' १७८.

❁

(श्रोता :-) साक्षीभाव रहना चाहिए ?

(श्री सोगानीजी :-) `अपन' तो साक्षीभाव में भी नहीं आते। `अपन' तो ऐसी भूमि हैं जहाँसे एक साक्षीभाव तो क्या... अनंत साक्षीभाव उठते रहेंगे। एक समय के साक्षीभाव में `मैं' पूरा

का पूरा आजाऊँ तो `मेरा' नाश हो जाए। साक्षीभाव में (साक्षीभाव के विकल्प में) भी एकत्व नहीं करना है। जहाँ से वह (साक्षीभाव) उठता है... वो ही भूमि - नक्कर (स्थिर, ठोस) स्थल - `मैं' हूँ। १७९.

❁

वस्तु वर्तमान में प्रत्यक्ष स्थित है, वर्तमान में ही विद्यमान है। एक समय की पर्याय के पीछे पूर्ण वस्तु स्थित है; लक्ष्य करे उसी क्षण दिख जाती है। (अर्थात् वेदन में आ जाती है।) १८०.

❁

देव-शास्त्र-गुरु की इज़्ज़त करते हैं, क़ीमत करते हैं, तो वे ही कहते हैं कि - तू तेरी क़द्र कर ! १८१.

❁

`स्वयं से ही लाभ है' ऐसा न माने तो अन्य से लाभ मानना ही पड़े, यह नियम है। और `अपने से ही लाभ है' ऐसा माने तो परसे लाभ माना ही नहीं जाता, यह भी नियम है। १८२.

❁

योग्यता और पात्रता ठीक (उत्कृष्ट) होवे तो एक ही क्षण में काम हो जाये, ऐसी बात है। १८३.

❁

पहले विकल्प उठे और बाद में समाधान करे कि `ये स्वतंत्र हैं' (तो यह यथार्थ नहीं) विकल्प के साथ ही साथ उसी क्षण उससे भिन्नता होनी चाहिए। १८४.

❁

प्रश्न :- धारणा के बिना अनुभव हो सकता है क्या ?

उत्तर :- धारणा नहीं होवे और अनुभव हो जाये, यह सवाल ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि धारणा होनेपर भी (बिना पुरुषार्थ) अनुभव नहीं होता। धारणा में `मैं चैतन्यमूर्ति हूँ' - ऐसा टाँक दो, और इसी स्थल पर जम जाओ, तब अनुभव होता है। १८५.

❁

`मैं' ऐसी भूमि हूँ जहाँसे क्षण-क्षणमें नया-नया फल उत्पन्न होता ही रहता है। जैसे भूमिसे ऋतु-ऋतुके अनुसार अनेक फल उत्पन्न होते रहते हैं, वैसे `मैं ऐसी भूमि हूँ' जहाँसे सुखका फल उत्पन्न होता ही रहता है। `मैं' अमृतरससे भरा हुआ हूँ। `मैं' तो ऐसी भूमि हूँ जिसे फलके लिए जलकी भी ज़रूरत नहीं रहती, क्योंकि `मैं' स्वयं ही सुखरूप हूँ; दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षा ही नहीं। १८६.

❁

प्रश्न :- जम जाना भी तो पर्याय ही है न ?

उत्तर :- अरे भाई ! आख़िर कार्य तो सब परिणाम में ही आयेगा। परिणाम से घबराओ मत, लेकिन परिणामपर खड़े भी मत रहो। कार्य तो परिणाम में ही आता है। अपरिणामी में जम गया (स्थिर हो गया) तो कार्य तो परिणाम में ही आयेगा और वेदन भी पर्याय का ही होगा। `अपरिणामी' `परिणाम' दो अंश मिलकर पूरी (प्रमाणज्ञान की विषयभूत) वस्तु है। १८७.

❁

अपन तो अपने ही सुख-धाम में बैठे रहें, जमे रहें...बस ! -

यही एक बात क़ायम रख करके, दूसरी-दूसरी सभी बातों को खतिया लो। १८८.

❁

(अज्ञानी जीवको) ज्ञानका थोड़ा क्षयोपशम होवे और थोड़ा विकास भी होता जाए तो वह उसमें ही रुक जाता है; मैं थोड़ा समझदार तो हूँ और पहलेकी अपेक्षा शान्ति भी तो बढ़ रही है, इस तरहसे मैं आगे बढ़ तो रहा हूँ - ऐसे सन्तोष मानकर अटक जाता है। १८९.

❁

यहाँ (अंतर्मुख) बैठते ही...बस !....इधर अपने असंख्यात प्रदेश में दृष्टि लगाते ही यहीं से सीधा सिद्धलोक में जायेगा। १९०.

❁

`वर्तमान में ही कृतकृत्य हूँ' - ऐसी दृष्टि अपनी वस्तु में हुयी, तो करुँ...करुँ - ऐसी कर्तृत्व बुद्धि छूट गयी.... बस ! यही मुक्ति है। १९१.

❁

`अपने सुख-धाममें सदा जमे रहना' बस ! - यही बात बारह अंगका एकमात्र सार है। १९२.

❁

दृष्टि खुले बिना शास्त्र का अर्थ भी यथार्थरूप से खतिया नहीं सकते। खतियाने में इधर की (-आत्मा की) मुख्यता कभी गौण नहीं होनी चाहिए; इधर की मुख्यता क़ायम रखकर ही सब कथन खतिया ने चाहिए। १९३.

❁

ज्ञानी को भी क्षणिक विकल्प उठते हैं, लेकिन पूर्व की (अज्ञानदशा की) माफिक (विकल्प में) अनंत जोर नहीं है। विकल्प उठते हैं, किन्तु पछाड़ खाकर खत्म हो जाते हैं। १९४.

❁

(परिणति में) सहज सुख का अनुभव (राग के) साथ-साथ वर्तता ही है, इसलिए ज्ञानी हर्षभाव को भी प्रत्यक्ष दुःखरूप जानते हैं। परंतु जिन्हें सहज सुख प्रकट नहीं हुआ वे किसके साथ मिलानकर हर्षभाव को दुःखरूप मानेंगे ? १९५.

❁

जो आनंद में मस्त है, उसकी मस्ती में आनंद की ही बात आती है। १९६.

❁

``शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुख धाम'' - कैसी सुंदर बात श्रीमद्जीने की है ! एक पंक्ति में सब बात आगई। बस, भाई ! तू इतना ही विचार (ज्ञान) कर। १९७.

❁

परिणाम का कार्य परिणाम करेगा, तुम उसकी दरकार छोड़ो; तुम तो अपने नित्यघर में ही बैठे रहो। अपने घर में (द्रव्यस्वभाव में) बैठे, तो सब सहज ही सहज है। परिणाम का चश्मा (पर्याय में `मैं-पना') लगाया हुआ हो तो (स्वयं) परिणामरूप ही भासता है, अपरिणामी नहीं भासता। १९८.

❁

`मैं अधिक हूँ' - यही स्वयं का माहात्म्य भाव है। `मैं' कोई भी भावमें - विकल्प में खिसकता नहीं, तणीजता (खींचिजता)

ही नहीं, वैसा का वैसा और वहीं का वहीं हर समय रहता हूँ; विकल्प के साथ, परिणाम के साथ, खिसकता ही नहीं हूँ। क्या दर्पण का दल क्षणिक आकार में खिसकता है (आता है) ? - वैसा का वैसा ही रहता है। ऐसे ही, `मैं' भी सदा वैसा का वैसा रहता हूँ। १९९.

❁

कहाँ एक समय का भाव... और कहाँ त्रिकाली सामर्थ्य !! त्रिकाली सामर्थ्य के पास एक समय के भाव की क्या शक्ति ? २००.

❁

यह बात समझ में आने पर `करुँ.... करुँ' का बोझा तो हल्का हो जाए; परंतु इस त्रिकाली-अपरिणामीभाव का अनुभव होना - यही ख़ास बात है; यह अनुभव करो। २०१.

❁

(चर्चा सुननेवालों के प्रति :) यहाँ वाले सभी की लगनी तो अच्छी हो गयी है; लेकिन यहाँ की मुख्य बात कि - `हमारा लक्ष्य छोड़ो' - यह बात छोड़ी नहीं जाती। (मानते होंगे कि,) तुम ऐसी अच्छी बात बताते हो तो तुमारा लक्ष्य कैसे छोड़ें, तुमारी सन्मुखता कैसे छोड़ें ? लेकिन असल में तो अपनी सन्मुखता बिना यह बात समझ में नहीं आती। २०२.

❁

अरे भाई ! `तू' एक समय की पर्याय में आ नहीं जाता है। `तू' तो अनंती पर्यायों का पिण्ड है; यदि `तू' एक पर्याय में आगया तो अन्य सभी पर्यायें विधवा हो जायेंगी। २०३.

❁

अज्ञानी को अकेले परिणाम का ही वेदन होता है। परिणाम के साथ ही समूचा अपरिणामी पड़ा है - उसका वेदन नहीं होता। लेकिन अपरिणामी में दृष्टि जमाकर, उसमें तादात्म्य होकर - प्रसरकर - अपनापन होते ही उसी क्षण में `अपरिणामी' और `परिणाम' दोनों का एक साथ अनुभव होता है। अकेले परिणाम का वेदन मिथ्यादृष्टि को ही होता है। ज्ञानी को तो एक साथ दोनों का (- द्रव्य और पर्याय का) अनुभव रहता है। (पर्याय स्वरूपाकार हो जाती है; - ऐसी पर्याय के अनुभव को अर्थात् द्रव्यस्वरूप के अभेदभावरूप अनुभव को द्रव्य का अनुभव कहने में आता है। वास्तव में अनुभव, पर्याय की सीमा का उल्लंघन नहीं करता। २०४.

❁

`मैं निष्क्रिय हूँ' - यह चश्मा तो सदा ही लगाए रखना चाहिए। दूसरा चश्मा लगाते समय भी, यह चश्मा तो लगाए ही रखना चाहिए; इसके बिना तो कुछ भी दिखलाई नहीं देगा। ( यहाँ चश्मा शब्द का वाच्य `दृष्टिकोण' है।) २०५.

❁

`मैं' ऐसा अपरिणामी (ध्रुव) पदार्थ हूँ कि तीनों लोकों के सभी पदार्थ इकट्ठे होकर भी मुझे हिला-डुला नहीं सकते। २०६.

❁

साधक-बाधक - ये सब तो पर्याय का ज्ञान करने के लिए हैं। सबलाईका (अनंत वीर्य के पिण्डरूप का) चश्मा लगाए बिना, नबलाई का भी (यथार्थ) ज्ञान नहीं होता है। साधकपना -

बाधकपना तो पर्याय की बात है, `हमें' तो साधकपने-बाधकपने की भी दरकार नहीं है, क्योंकि बाधकपना `मुझे' (त्रिकाली को) नुकसान नहीं पहुँचा सकता और साधकपना लाभ नहीं कर सकता; तो फिर इनका विचार क्यों ? २०७.

❁

अपने में (चैतन्य गोले में) ऐसे लीन हो जाना कि उसके रस से परिणति अन्यत्र जाए ही नहीं; - उसी को वैराग्य कहते हैं। २०८.

❁

यहाँ अपनी ओर आते ही कर्म की खड़खड़ाहट ख़त्म हो जाती है, कर्म-धूलि उड़ने लगती है, पर्याय का बाँकापन-टेढ़ापन भी छूट जाता है, सुख-शांति बढ़ती जाती है। २०९.

❁

अपेक्षा-ज्ञान बराबर होना चाहिए, नहीं तो खतियाने में फेर हो जाता है। किस अपेक्षा से, किस बात को कितनी मर्यादा तक कहा है, उसका ख़याल होना ज़रूरी है। २१०.

❁

निश्चयाभास (होने) का भय छोड़ देना चाहिए; निश्चयाभासी तो तब कहें कि - जब पर्याय में स्वभाविक सुख प्रकटा न हो। परंतु जिसको सुख प्रकट (अनुभव) हुआ है, वह निश्चयाभासी नहीं है। २११.

❁

पर्याय को जहाँ (अंतर में) जाना है, वह तो निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनों से रहित है, फिर भी वहाँ (अंतर में) जानेवाले को निवृत्ति

का ही विकल्प बीच में आता है, प्रवृत्ति से खिसकने का ही भाव आता है - यह नियम है। नियम होनेपर भी उसपर वज़न नहीं है, ऐसा ही भाव बीच में आ जाता है। २१२.

❁

तुम पंद्रह साल का संबंध कहते हो, लेकिन हमारे तो वर्तमान विकल्प जितना ही, एक क्षण का संबंध है; यह विकल्प छूटा...कि...फिर खलास !

चक्रवर्ती (सम्यग्दृष्टि) को छियानबे हजार रानियाँ और वैभव आदि होनेपर भी वर्तमान जिस पदार्थ की ओर लक्ष्य जाता है, उसीका वह भोक्ता कहलाता है; परंतु अभिप्राय में तो उस पदार्थ का भोक्ता... उसी क्षण ख़त्म हो गया। (ज्ञानीपुरुष को सभी प्रकार के संयोगों से भिन्नता वर्तती है चाहे संयोग लौकिकदृष्टि से कितना ही महत्त्वपूर्ण या पुराना हो किन्तु भिन्नता में एकक्षण में सब खत्म हो जाता है।) २१३.

❁

`आत्मधर्म' जब मिला उसमें ``एक ही आवश्यक है'' - ऐसा पढ़ते ही चोट लगी। - अरे ! यह आठ द्रव्यों से पूजा करना, छः आवश्यक.... इन सबमें तो बोझा लगता है; और इस एक (निश्चय) आवश्यक में तो बोझा घट जाता है। २१४.

❁

(सोनगढ़ से दो मील दूर `एकलिया ड़ैम' के एकांत स्थल के शांत वातावरण को देख कर कहा :) यह स्थान यह बतला रहा है कि यदि तुमे सुख चाहिए तो तुम अपने साथियों से भी दूर हो जाओ। २१५.

❁

`मैं निरावलंबी पदार्थ हूँ' - ऐसा निर्णय आए बिना, अभिप्राय में (पर का) आलंबन नहीं छूटता। २१६.

❁

प्रश्न :- श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर ही छोड़ देना ?

उत्तर :- यथार्थ श्रद्धा तो हुई नहीं, और श्रद्धा अन्यत्र (पर पदार्थों में) भटकती हुई, अपनापन (अहम्पना) करती रहे, और फिर भी कहे कि श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर छोड़ता हूँ; - (असल में) ऐसा तो हो नहीं सकता। पहले श्रद्धा अपने त्रिकाली अस्तित्व में अभेद हो जाए, उसके बाद तो श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर ही है। २१७.

❁

झटपट मुक्ति चाहिए !.... तो बस, यहाँ (त्रिकाली में) ही बिराजमान हो जाओ। २१८.

❁

(कर्ताबुद्धि के निषेध की अपेक्षा से कहा :) ज्ञान करने की ज़रूरत नहीं; मंद कषाय करने की ज़रूरत नहीं; निर्विकल्पता करने की ज़रूरत नहीं; केवलज्ञान करने की ज़रूरत नहीं; - सभी सहज होते हैं, करने का बोझा ही नहीं रखना है। अपरिणामी पर आए तो सब सहज ही होता है। `ज्ञाता-दृष्टा रहूँ' - यह भी नहीं; इधर (आत्मा में) आया तो ज्ञाता-दृष्टापना सहज रहता है, `रहूँ' - ऐसा नहीं। २१९.

❁

(तीर्थंकर के जन्मोत्सव में) इन्द्र नृत्य करके बाहर में लौकिक अपेक्षा से खुशी मना रहे हों तो भी, उनके अंदर

में (परिणति में) जो सहज सुख चलता है उसमें, वह हर्ष-भाव भी सहज ही दुःखरूप लगता है; और यह सहज सुख, उस (हर्ष -) भाव का सहज निषेध करता है; बाहर में तो इन्द्र हर्ष-भाव से खुशी मनाते हैं। २२०.

❁

प्रश्न :- (हमको आत्मा में) स्थिरता क्यों नहीं होती ?

उत्तर :- क्षणिक (अस्थिर) परिणाम में अपनापन है, स्थिर तत्त्व को पकड़ा नहीं है, तब स्थिरता कहाँसे आए ? `मैं अपरिणामी सदैव स्थिर ही हूँ' - ऐसे त्रिकाली -स्थिर तत्त्व में अपनापन आते ही परिणाम में स्थिरता सहज आ जाएगी, स्थिरता बढ़ेगी और पूर्णता भी हो जायेगी। पहले `मैं त्रिकाली स्थिर तत्त्व हूँ' - ऐसी दृष्टि होनी चाहिए। २२१.

❁

जितना भी देव-शास्त्र-गुरु की ओर लक्ष्य जाता है उतना नुकसान ही है, (बहिर्मुख उपयोग होनेसे) लाभ नहीं है; यह बात पक्की हो जानी चाहिए। २२२.

❁

प्रश्न :- उपयोग को स्वयं की ओर ढालने का ही एक मात्र कार्य करने का है न ?

उत्तर :- पर्याय की अपेक्षा से तो ऐसा ही कहा जाएगा। क्योंकि उपयोग दूसरी ओर है तो इधर लाओ - ऐसा कहने में आता है। असल में तो `मैं खुद ही उपयोग स्वरूप हूँ,' `उपयोग कहीं गया ही नहीं' - ऐसी दृष्टि होनेपर, (पर्यायअपेक्षा से) उपयोग स्वसन्मुख आता ही है। २२३.

❁

सुनने के भाव में सुननेवाले को और सुनाने के भाव में सुनानेवाले को नुकसान है। (-बहिर्मुख उपयोग होनेसे) दोनों को नुकसान का ही धंधा है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार दोनों को नुकसान है। (धर्मवार्ता सुनानेवाले और सुननेवाले को भूल से ऐसा अभिप्राय हो जाता है कि ऐसा कार्य करते-करते लाभ हो जायेगा, परंतु इस अभिप्राय में साधन की भूल गर्भित रहनेसे बहुत बड़ा विपर्यास है। साधकदशा में जो सुनने-सुनाने का राग आता है, वह मात्र चारित्र-दोष है; किन्तु अभिप्रायपूर्वक वैसा राग साधक को नहीं होता।) २२४.

❁

सारी दुनिया को छोड़कर इधर (सुनने को) आया..... तो इधर थपाट लगाकर (झिड़क कर) कहते हैं कि - अरे भाई ! तू तेरी ओर जा। २२५.

❁

आत्मासंबंधी विकल्प हो या परसंबंधी विकल्प हो, विकल्प तो विकल्प ही है। (उसमें 'मैं' नहीं।) २२६.

❁

प्रश्न :- वस्तु पकड़ने में नहीं आती, तो कहाँ अटकाव हो जाता है ? क्या महिमा नहीं आती है ?

उत्तर :- एक समय के परिणाम में अपनापन रहता है - बस ! यही भूल है। महिमा तो आती है, किन्तु ऊपर-ऊपर से। यदि वास्तविक महिमा आजाए तब तो छोड़े ही नहीं। वस्तु का आश्रय (आधार) पकड़ना चाहिए, उसे नहीं पकड़ता है। २२७.

❁

पर्याय मात्र की गौणता करो। अनुभव हुआ, नहीं हुआ - यह मत देखो। `त्रिकाली वस्तु ही मैं हूँ।' पर्याय मात्र को गौण कर, इधर का (अंतर-स्वरूप का) प्रयास करो। अभिप्राय में एक दफ़ा तो सब से छूट जाना है। २२८.

❁

जैसे भूँगली को पकड़े हुए शुक को ऐसा लगता है कि `मैं उलटा हूँ, यदि सुलटा होता तो फौरन उड़ जाता'; ऐसे अज्ञानी को ऐसा लगता है कि `मैं विकारी हूँ, इसलिए आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकूँ ?' अरे भाई ! सुलटे-उलटे की बात ही नहीं है; परिणाम से छूटा तो ध्रुवपर ही आएगा। (-पर्यायबुद्धि छुटनेपर आत्मा में ही आत्मबुद्धि होगी)। भूँगली को शुक छोड़ता...तो उड़ ही जाता, क्योंकि उड़ना उसका स्वभाव है - ऐसे परिणाम से खिसके तो त्रिकालीदल में ही आएगा। २२९

❁

ध्रुव तत्त्वपर पाँव (दृष्टि) रखो.... तो पर्याय में सब कार्य सहज ही होगा। २३०.

❁

आचार्य भगवंत तो निरंतर अमृतरस का ही पान करते थे, अमृतरस में ही मग्न रहते थे। जैसे अच्छा भोजन करते समय अपने कुटुंबिकजनों की याद आती है, वैसे आचार्यदेव को करुणा आती है कि भाई ! तुम्हारे पास भी आनंद का दरिया पड़ा है, तुम भी उसको पी ओ... पी ओ ! २३१.

❁

वस्तु साक्षात् मौजूद पड़ी है, मात्र कल्पना नहीं करना

लेकिन उस रूप हो जाना - तन्मय होकर असंख्य प्रदेश में व्याप्त हो जाना। जब वस्तु साक्षात् है तो फिर मात्र कल्पना क्यों करना ?- उस रूप परिणम जाना ! (स्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव काल में `आत्मप्रत्यक्षता' के अवलंबन से उत्पन्न पुरुषार्थ का यह प्रकट चितार है।) २३२.

❁

अपने त्रिकाली ध्रुवगुरु को गुरु बनाकर जो शुद्धपर्याय प्रकटी.... तो बाहर में उस वाच्य के बतानेवाले पर गुरु का आरोप किया जाता है। २३३.

❁

परिणाम में फेर-फार करना मुझ चैतन्य-खान का स्वभाव नहीं है। `पुरुषार्थ की खान ही मैं हूँ' तो फिर एक समय के पुरुषार्थ में `करने की' आकुलता क्यों ? २३४.

❁

अपनी अनंत परिणति को `नित्य' रहकर भोगते रहो; खण्ड-खण्ड होकर भोगने में तो अपना नाश हो जाता है। २३५.

❁

`मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ'- इसकी तो पूरी मुख्यता होनी चाहिए; और दीनताका (परावलम्बीपनेका) पूरा-पूरा दुःख मालूम होना चाहिये। २३६.

❁

यहाँ (त्रिकाली में) अपनापन आते ही मोक्ष अपने आप हो जाता है। दृष्टि `यहाँ' अभेद हुई तो इसे मुक्ति समझो ! २३७.

❁

अपने स्वक्षेत्र में बैठ गया तो परिणाम जाएगा कहाँ ?- परिणाम का ज़ोर (परोन्मुखी ज़ोर) पंगु हो जाएगा। बहिर्मुखता में तो परिणाम पर के साथ चला जाता है। दृष्टि यहाँ (अंतर में) जमी तो परिणाम में ज़्यादा दूर जाने की शक्ति ही नहीं रहती। २३८.

❁

यथार्थ रुचि हो तो काल लगे ही नहीं, रात-दिन, खाते-पीते-सोते उसके ही पीछे पड़े। २३९.

❁

(विकल्पात्मक) कृत्रिम पुरुषार्थ की तो बात ही क्या ? लेकिन अक्रिय (चिद्बिंब की) दृष्टि में तो सहज पुरुषार्थ की भी गौणता है, क्योंकि वह भी क्रिया (एक समय की पर्याय) है। अक्रिय (स्वरूप)- दृष्टि में क्रिया मात्र की गौणता है। २४०.

❁

सुननेके कालमें भी `मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ' - यहाँसे शुरू करना चाहिए, फिर सुननेका भाव आएगा किन्तु उसकी मुख्यता नहीं होगी। २४१.

❁

परिणाम को हटा नहीं सकते, परिणाममें से एकत्व हटा सकते हैं। २४२.

❁

उपयोग अपने से बाहर निकले.... तो यम का दूत ही आया- ऐसा देखो ! बाहर में फिर चाहे भगवान ही हों !

(उपयोग बाहर जावे) उसमें अपना मरण हो रहा है। बाहर के पदार्थ से तो अपना संबंध ही नहीं, तो फिर उपयोग को बाहर में लंबाना क्यों ? २४३.

❁

`कुछ करना नहीं हैं' हर समय ऐसा भाव रहना (- कर्ताबुद्धि छूट जाना) इससे अधिक मुक्ति कौनसी है ? २४४.

❁

दूसरे से अपनी प्रसिद्धि होवे, इसमें तो अपने को पराधीनता आई; ख़ुद तो लँगड़ा ही रहा। २४५.

❁

बाहर के सत्से - देव-शास्त्र-गुरु से - तुझे लाभ होनेवाला नहीं है; तेरे सत् से ही तुझे लाभ है। बाहर के सत् से लाभ होवे तो क्या तू स्वयं सत् नहीं है ! २४६.

❁

वस्तु और वस्तु में एकाग्रता-तणाव (खिँचाव) - बस, ये ही दो बातें हैं। एकाग्रता होते-होते मुक्ति हो जाती है। (इसके अलावा) सुनना, तत्त्वचर्चा करना, ये सब विषय-सेवन हैं (क्योंकि बहिर्मुखीभाव हैं); अपने विषय को छोड़कर, इन्हें विषय बनाते हैं तो अपना विषय पड़ा रह जाता है। २४७.

❁

सिर्फ़ बैठक ही बदलना है। परिणामपर बैठे हो तो वहाँसे उठकर अपरिणामीपर बैठ जाओ...बस, इतनी-सी बात है। २४८.

❁

कचाश (कमी) तो तब कही जावे कि - जब अकचासस्वभाव

की दृष्टि हुयी हो; नहीं तो कचास कहाँ है ? - एकांत परसन्मुखता है। २४९.

❁

(आत्मप्राप्ति कैसे होवे ? - इस विषय में जिज्ञासापूर्वक पूछे गये प्रश्न का विस्तृत उत्तर :-)

रुचि में खरेखर अपनी ज़रूरत लगे तब अपनी वस्तु की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। चौबीसों घण्टों चिंतन में - बेचिंतन में एक यही (स्वरूप का घोलन) चलता रहे। जिस विषय की रुचि होती है, वह विषय सैकड़ों बाह्य कार्य करते हुए भी चलता ही रहता है। बाहर का उपयोग तो ऊपरी-ऊपरी तौर से चलता है, उसमें जाग्रति नहीं रहती; जिस विषय की रुचि है उसी में जाग्रति रहती है। सैकड़ों कार्य करते रहने पर भी सभी की गौणता ही रहा करती है; मात्र रुचि का विषय ही सदा मुख्य रहता है।

विकल्पात्मक विचार में भी `शरीराकार चैतन्यमूर्ति' को टाँक दो.... `मैं तो यही हूँ।' सुख-दुःख की जो कोई पर्याय हो, उसकी उपेक्षा रखो. `मैं तो यही हूँ' - विचार चले, उसकी भी गौणता रखो। `मैं तो वैसा का वैसा ही चैतन्यमूर्ति हूँ' - बस ! यही दृढ़ता करते रहो।

सुनना, शास्त्र पढ़ना आदि सभी की गौणता होनी चाहिए; एकांत का ज़्यादा अभ्यास रहना चाहिए (ताकि स्वरूपघोलन बढ़े।)

यह (सम्यक्त्व) प्राप्त नहीं हुआ तो जीव निगोद में चला जाएगा - ऐसे निगोद के भय से, अपना कार्य करना चाहे

तो वो यथार्थ नहीं। परंतु (अभिप्राय में) निगोद की अवस्था हो या सिद्ध की, `मेरा' तो कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं (`मैं' अवस्थारूप नहीं,) - ऐसी `मैं अचलित वस्तु हूँ' - ऐसी श्रद्धा जम जानी चाहिए। पर्याय कैसी भी हो उसकी उपेक्षा ही रहनी चाहिए।

`परद्रव्य के साथ में तो कुछ संबंध ही नहीं' ऐसा तो पक्ष होना चाहिए; बाद में वस्तु (त्रिकाली ध्रुव) और परिणाम (उत्पाद-व्यय) इन दो के विचार में ही सब समय लगा देना है।

चौबीसों घण्टों....बस यही (स्वरूप का घूँटण) चलना चाहिए। प्रवृत्तिभाव को गौण करके इस एक ही की मुख्यता चलनी चाहिए - यही प्रयास निरंतर चलना चाहिए। २५०.

❁

आत्मा, ज्ञान और सुख से भरा हुआ है फिर अपने को चाहिए भी क्या ? लोग जन्म-मरण से छूटना चाहते हैं, लेकिन `मैं' तो जन्म-मरण से रहित ध्रुव हूँ; उत्पाद-व्यय के साथ भी `मैं' खिसकता नहीं। २५१.

❁

इधर से (अंतरमें से) जो ज्ञान खिलता है, वो सारे नाटक को (तटस्थ होकर) देखता है - कैसे-कैसे भाव उठते हैं ? कैसे ठगाते हैं ? कैसे खिँचाव (परद्रव्य-प्रति) होता है ? - ये सब नाटक, ज्ञान देखते रहता है। २५२.

❁

इतना-इतना ख़ुलासा यहाँ से (पूज्य गुरुदेवश्री से) बाहर

आ चुका है कि पंचम आरा के अंत तक चलेगा। २५३.

❁

(मात्र) विचार करनेसे वस्तुका पता नहीं लगता (आत्माका अनुभव नहीं होता) वस्तु तो प्रत्यक्ष मौजूद है, बस ! इसीमें प्रसरकर बैठ जाना, बिराजमान हो जाना। २५४.

❁

'मैं' ही पुरुषार्थ की खान हूँ न ! दृष्टि ने पुरुषार्थ की खान का क़ब्ज़ा ले लिया, फिर पर्याय में पुरुषार्थ, सुख आदि सहज होता ही है। २५५.

❁

प्रश्न :- परिणाममेंसे एकत्व छोड़ देना, यही आपका कहना है ?

उत्तर :- बस...यही कहना है। परिणाममेंसे एकत्व छोड़ दो ! लेकिन यह एकत्व छूटे कैसे ? - नित्य स्वभावमें एकत्व करे तब। निश्चय नित्य स्वभावमें दृष्टि जमाकर, परिणाम मात्रसे एकत्व उठा लेना। २५६.

❁

प्रश्न :- वृत्ति उठती रहती है, वह कैसे रुक जाए ?

उत्तर :- एक समयकी वृत्तिको उसीमें रहने दो। 'मैं' त्रिकाली तो एक समयकी वृत्तिमें जाता ही नहीं। त्रिकालीमें अपनापन होते ही वृत्ति भी खिँचीज जायेगी (खींची चली आएगी)। २५७.

❁

सबसे प्रथम अभिप्राय में निरावलंबीपना आ जाना चाहिए। बीच में (बाद में) ज़रा-सा (पर का) अवलंबन आ जाए, लेकिन

उसी समय अभिप्राय में निषेध (वर्तता) है। २५८.

❁

[ज्ञानीके] ज्ञानकी रागके प्रति पीठ होती है, मुख नहीं होता। इधर [अंतरमें] मुख होनेसे राग स्वयं छूट जाएगा। रागको कम करुँ, छोडूँ - ऐसा तूफ़ान नहीं होता। रागको कम नहीं करना है और लम्बाना भी नहीं है। `स्वभावका बल बढ़ते-बढ़ते राग कम होता जाता है।' ज्ञानका परिणमन अर्थात् स्थिरता - बस ! यही एक रागके नाशका उपाय है। रागको कम करुँ, [ऐसा कर्तृत्व भाव] यह कोई उपाय नहीं है। २५९.

❁

मैं तो यह सब स्वप्न देख रहा हूँ - शरीर, शरीरमें; और मैं, मेरेमें हूँ, स्वप्नकी माफ़िक यह सब हो रहा है। २६०.

❁

प्रश्न :- सीताजी साधर्मी थी और पत्नी भी थी, तो भी रामचंद्रजी ने लौकिकजनों की मुख्यता करके वात्सल्य अनुराग को भी गौण कर दिया - ऐसा कैसे ?

उत्तर :- देखो ! इससे यही सिद्ध हुआ कि `धर्मी को वात्सल्य राग ही मुख्य होता है, ऐसा नहीं है।' कभी कैसा राग आजाए! और कभी क्या (दूसरा) राग आ जाये ! (धर्मात्मा को सदैव वात्सल्य होता है। दूसरे प्रसंग की मुख्यता के समय भी वात्सल्य के अभिप्राय में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। अतः श्री रामचन्द्रजी के वात्सल्य के बारे में सीताजी निःशंक थी। वैसी निःशंकता धर्मी के प्रति रहनी चाहिए।) २६१.

❁

वात्सल्य, प्रभावना आदि के राग को (सभी तरह के राग को) हम तो रोग मानते हैं, फिर उसको बढ़ाना क्या ? २६२.

❁

द्रव्यलिंगी को वस्तु का (साधारण) माहात्म्य तो आया, लेकिन वस्तु परोक्ष ही रही, प्रत्यक्ष नहीं हुई। (परोक्ष ज्ञान में वस्तु-स्वरूप यथार्थ जाननेपर भी अनंत प्रत्यक्ष वस्तु की प्रत्यक्षता का ज़ोर आये बिना प्रत्यक्ष अनुभव नहीं आता।) २६३.

❁

आचार्य ने दृष्टि के दोष को इतना बड़ा बताया है कि, भाई ! सर्प का कटा तो एक ही दफ़ा मरता है, लेकिन मिथ्यात्व का कटा हुआ अनंत भव में रुलता है; - इसलिए इस मिथ्यात्व के महान् पाप से बचने के लिए, शादी तक कर लेने का कह दिया, क्योंकि वह तो मात्र राग का (चारित्रदोष का) ही कारण है। २६४.

❁

पर्याय (त्रिकाली) द्रव्यसे सर्वथा ही भिन्न है; प्रमाणमें अभिन्नता भी कहनेमें आती है, लेकिन प्रमाण निश्चयनयको झूठा करके नहीं कहता है; निश्चयसे तो पर्याय सर्वथा भिन्न है। प्रदेश एक होनेसे प्रमाण उनको अभिन्न कहता है; प्रमाण अभिन्न ही कहता है-ऐसा नहीं है; भिन्न-अभिन्न दोनों कहता है। परन्तु `एकान्त भिन्न है'- ऐसा ज़ोर दिए बिना, पर्यायमेंसे दृष्टि उठेगी नहीं। ``अनेकांत पण सम्यक् एकान्त एवा निज पदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुअे उपकारी नथी''-यही सत्य है। २६५.

❁

`मैं' इतना मज़बूत स्थल हूँ कि एक समय की पर्याय में अनंत सुख हो, ज्ञान हो या अनंती विपरीत पर्यायें हों, `मेरे' में उन पर्यायों से कुछ भी हलचल नहीं होती, सुधार-बिगाड़ नहीं होता - ऐसी दृढ़-मज़बूत चीज़ `मैं' हूँ। (- ऐसी दृष्टिवाले का परिणाम सुधर जाता है, फिर भी इसकी अपेक्षा नहीं होती।) २६६.

❁

प्रश्न :- परिणाम कैसे सुधरें ?

उत्तर :- नित्य अपरिणामी ध्रुवधाममें दृष्टि बिराजमान करनेसे परिणाम सुधरने लगेंगे। २६७.

❁

आख़िर तो सदा एकान्त (अकेला) ही रहना है. तो शुरूसे ही (एकान्तका) दो-चार-पाँच घण्टोंका अभ्यास चाहिए। २६८.

❁

जैसे मृत्यु का बाझा ताव से छूटता है, ऐसे `परिणाम मेरे से सर्वथा भिन्न है' (- ऐसा ज़ोर देने पर ही) दृष्टि परिणाम से छूटती है। २६९.

❁

(बाह्य व्यवहार में) किसी भी कार्य की जवाबदारी लेना सो तो (हमारे लिए) बड़ा पहाड़ उठाना है। (बहुत बोझा लगता है।) २७०. (अंगत)

❁

यह जो महाराजसाहब का योग मिला है - वह परम योग है, क्योंकि परम स्वभाव की प्राप्ति का कारण है।

महाराजसाहब जगत्गुरु हैं, जो अकेले सिद्ध लोक में नहीं जाते, बहुत से जीवों को साथ लेकर जाते हैं। यहाँ के अधिकांश लोग साथ में चलनेवाले हैं। २७१.

यह सब (तत्त्व की) बात विकल्पात्मकरूप से जान लेने से शान्ति नहीं मान लेना, अभेद-दृष्टि प्रकट करना। २७२.

असल में आत्मा कैसे प्राप्त होवे - यही एक ध्येय होना चाहिए; दूसरी-दूसरी बातों से क्या प्रयोजन ? २७३.

इधर (स्वरूपमें) दृष्टि आते ही सुखके स्रोतके स्रोत बहने लगेंगे। २७४.

जिस रस की रुचि होती है, उस रस की जिस निमित्त से कृत-कारित-अनुमोदनारूप पुष्टि मिलती है, उसीके संग का भाव होता है। देव-शास्त्र-गुरु शांतरस के निमित्त हैं, इसलिए (शांतरस की रुचिवाले को) उनके संग का भाव आता है। २७५.

निश्चयाभास के निषेध के लिए जब ऐसा कहने में आता है कि सुनने का भाव तो गणधर को भी आता है; अध्ययन का भाव तो मुनियों को भी आता है; - इत्यादि कथन आते हैं, तो अज्ञानी को व्यवहार-पक्ष की पुष्टि हो जाती है और निश्चयाभास हो जानेका डर (भय) लगता है, इससे निश्चयपर

ज़ोर नहीं दे सकता और व्यवहार में तणीज (खिँच) जाता है - राग में आदरभाव रह जाता है। २७६.

❁

`मैं' ऐसा पदार्थ हूँ कि मेरे में भय का प्रवेश ही नहीं हो सकता है (तो) फिर भय किस विषय का ? २७७.

❁

(सम्यग्दृष्टि) चक्रवर्ती को लोग (यों) देखें कि यह छः खण्डवाला है। (परंतु) उसकी दृष्टि तो अखण्ड पर है। २७८.

❁

(अभिप्राय की) ज़रा-सी भूल, वह भी पूरी भूल है। `पर्याय' ध्यान करनेवाली है, और `मैं' तो ध्यान की विषयभूत वस्तु हूँ; पर्याय `मेरा' ध्यान करती है, `मैं' ध्यान करनेवाला नहीं हूँ। `मैं' ध्यान करुँ, इस बात में; और `मैं' ध्यान करनेवाला नहीं, `मैं तो ध्यान का विषय हूँ' - इस बात में ज़रा-सा फेर लगता है; परंतु है रात-दिन जितना बड़ा फेर। (एक में पर्यायदृष्टि रहती है जबकि दूसरे में द्रव्यदृष्टि होती है, इतना बड़ा फेर है।) २७९.

❁

प्रश्न :- (ध्यान करते समय) सोऽहं....सोऽहं....शिवोऽहं.... आदि शब्द क्यों बोलने में आते हैं ?

उत्तर :- यह तो सीधा ध्यान जम न सके तब इन शब्दों के द्वारा कषाय थोड़ा और पतला पड़ता है, (चञ्चलता घटती है,) इसलिए है। (जिनका अंतर्पुरुषार्थ बलवान हो उनको भी ऐसा बोलना ही पड़ता हो, ऐसा नहीं है।) २८०.

❁

``शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम'' - इसमें पर्याप्त बात बतला दी है। फिर जो बात आती है, वह तो `परलक्ष्यीज्ञान की निर्मलता' के लिए सहज हो तो हो ! २८१.

❁

दृष्टि की तुलना में चारित्र का पुरुषार्थ अनंतगुना है, लेकिन उसकी भी मुख्यता नहीं (क्योंकि वह भी पर्याय है); दृष्टि के विषय की मुख्यता में उसकी भी गौणता रहती है। २८२.

❁

बाहर से अपना कोई प्रयोजन ही नहीं, तो बाह्य पदार्थों से तो सहज ही उदासीनपना रहे ही। २८३.

❁

दृष्टि अपने को प्रभु ही देखती है ! कमजोरी से विकल्प आया तो अपनी निंदा - गर्हा भी होती है; `मैं पामर हूँ' ऐसा भी विकल्प आता है; परंतु यह तो क्षण-पूरता ही विकल्प है, आ गया...तो...आ गया। (किसी ज्ञानी को तो दृष्टिबल प्रबल होनेसे निंदा-गर्हादि का विकल्प कम भी आता है) २८४.

❁

जैसे जिसको सूई (Injection) लेने की आदत हो गई हो उसको सूई लिए बिना चैन नहीं पड़ता, वैसे ही जिसको सुनने आदि की आदत (ध्येयशून्यवृत्ति) हो गई हो उसको उसके बिना चैन नहीं पड़ता। लेकिन (सुनने आदि के भाव का) तीव्र निषेघ आए बिना उनसे छूट ही नहीं सकते। (स्वरूपदृष्टि के बल से सभी प्रकार के शुभभाव, परलक्ष्यीभाव का निषेध आए बिना वे शुभभाव नहीं छूटते।) २८५.

❁

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा कैसा है ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा - ध्रुव, अभेद, एकरूप, शुद्ध, अखण्ड, कूटस्थ, अपरिणामी है। २८६.

❁

दृष्टि में तो `अपन' प्रभु हैं ! बाहर में अन्य को प्रभुता में आगे (विशेष) बढ़ा देखें तो सहज ही प्रमोदभाव आ जाता है, लेकिन ऐसा भाव भी क्षणपूरता ही आता है, ज्यादा लगाव नहीं होता। २८७.

❁

इधर (आत्मस्वरूप में) नहीं आया तो पर्याय का विवेक भी नहीं होता। तो कहना पड़े कि भाई ! पर्याय का विवेक रखो ! इधर (स्वरूप में) आया तो पर्याय का विवेक तो सहज ही होता है। २८८.

❁

एक समय की पर्याय को छोड़कर जो सामान्य वस्तु रह जाती है, वही दृष्टि का विषय है। २८९.

❁

अनादि काल से भटकते-भटकते जब अपरिणामी में (स्वस्वभाव में) अपनापन हुआ कि `मैं तो सदा मुक्त ही हूँ' .....बस ! यही जीवन की धन्य पल है। २९०.

❁

वीतरागी के साथ राग करने का प्रयत्न मूर्खता है; वे तो तेरे को जवाब तक भी नहीं देंगे। २९१.

❁

अपने सहज सुखकी पिपासा होनी चाहिए; जितनी तीव्र पिपासा...उतना जल्दी काम होता है। २९२.

❁

देव-गुरुसे कुछ लेना नहीं है। उनके स्वरूपको देखकर 'मैं भी इन्हींकी जातिका हूँ' - ऐसा जाननेमें आता है; लेना-देना कुछ नहीं है। दूसरेके साथ लेने-देनेका सम्बन्ध ही नहीं है। अशुद्धपर्यायका दूसरेकी ओर लक्ष्य जाता है। [इतना ही है] किन्तु दूसरेसे लेन-देनका सम्बन्ध नहीं है। २९३.

❁

जो पर्याय जिस कालमें होनेवाली है, तभी होती है। मुनिदशा भी सहज होती है। पहले भावना होती है; लेकिन अभिप्रायकी पहले प्रधानता करो; पीछे योग्यता प्रधानी हो जाओगे। जो पर्याय जब होनेवाली है तब ही होती है। 'अपन' तो जहाँ बैठे हैं, वहाँ कुछ करना-कराना नहीं है। 'अपन तो बंध और मुक्ति दोनोंसे रहित हैं।' [सम्यग्दृष्टि जीवको मुनिपदसे लेकर पूर्ण शुद्धदशाकी भावना आती है फिर भी उसे अपने अक्रिय चिद्बिम्बका ही अभिप्राय मुख्य रहता है। अतएव मुमुक्षु जीवको भी दृष्टिके विषयभूत स्वरूपकी मुख्यतामें रहकर ही अध्यात्मदशाकी भावना होनी चाहिए; वरना पर्यायदृष्टि छूटी नहीं होनेसे उसे भावनाकी तीव्रतामें भी पर्याय-प्रधानता वृद्धिगत हो जाएगी।] २९४.

❁

दृष्टि के विषय की हर समय मुख्यता रहनी चाहिए। (दूसरी) चाहे जितनी बात आओ, लेकिन उसकी (दृष्टि के विषय की) गौणता नहीं होनी चाहिए। २९५.

❁

पूरे `समयसारजी' में छट्ठी गाथा में सम्यग्दर्शन का ख़ास विषय आगया है। छट्ठी गाथा में सबसे उत्कृष्ट बात आगयी है। `मैं प्रमत्त भी नहीं, अप्रमत्त भी नहीं,' कौनसी पर्याय बाकी रही ? २९६.

❁

देव-शास्त्र-गुरु की तरफ के लक्ष्य और वलण में भी भट्ठी-सा दुःख लगना चाहिए। (ज्ञानी का) बाहर में उत्साह दिखता है, लेकिन अंदर में भट्टी-सा दुःख लगता है। २९७.

❁

विकल्पात्मकभाव में यह निर्णय आया कि `कुछ करना ही नहीं है' तो इतना मात्र विकल्पात्मक कर्तृत्व छूटनेपर आकुलता उतनी कम हो जाती है; फिर विकल्प रहित (निर्विकल्प) निर्णय होनेपर सर्वथा कर्तृत्व छूटकर वास्तविक शांति होती है। २९८.

❁

सुनने आदि के भाव ज्ञानी को, गणधर को भी आते हैं तो अपने को क्यों न आए ? (- ऐसी बातों के अवलंबन से अज्ञानी जीव) ऐसे-ऐसे पराश्रितभाव की पुष्टि करता है। २९९.

❁

मृत्युके समय जीवको अपनी रुचिका विषय ही मुख्य हो जाता है; अन्य सभी चीज़ोंसे रुचि हट करके, जिसकी रुचि थी उसी एक चीज़की मुख्यता हो आती है। - ऐसे, जिसको आत्माकी रुचि है, उसको मृत्युके समय अपना आत्मा ही मुख्य हो जाता है; उस समय तो सब कुछ समेट लेना है।

(-इस बात पर किसी जिज्ञासुने श्रीमद् राजचन्द्रजीके देहान्तसमय कहे हुए वे शब्द कि ``मैं स्वरूपमें लीन होता हूँ'' दोहराए, जिसे सुनकर सोगानीजीने कहा कि `ऐसा ही होता है'।) दूसरेसे कहे कि `मुझे सुनाओ' तो उसकी योग्यता भी उसी प्रकारकी है, तभी ऐसा विकल्प आता है। ३००.

❁

एक (मूल) बात यथार्थ पकड़ में आनेपर सब बातें यथार्थरूप में ग्रहण होती हैं। ३०१.

❁

अपने तो अपना समझना। दूसरा कैसा समझता है, कैसा नहीं, इसका क्या प्रयोजन? दूसरे में रुकेगा तो अपना काल व्यर्थ चला जाएगा। ३०२

❁

(जो) क्षयोपशम में बैठे हुए, द्रव्य (आत्मा) ऐसा है.... ऐसा है - ऐसे द्रव्य की बातें कर रहा है, वह तो दूर बैठकर द्रव्य की बात कर रहा है। (आत्मा में बैठकर द्रव्य का स्वरूप बताना यथार्थ है।) ३०३.

❁

जब अंतर्दृष्टि जमे...तब ही (वर्तमान पर्याय की) योग्यता का ज्ञान यथार्थ होता है; तभी (जिस काल की जैसी) `योग्यता' कहने का अधिकार है। ३०४.

❁

(निर्विकल्प दशामें) बिजलीके करंटकी माफ़िक अतीन्द्रिय सुख प्रदेश-प्रदेशमें व्यापक होकर प्रसर जाता है। ....झनझनाहट....!

काल थोड़ा होनेपर भी क्या ? (काल थोड़ा होनेसे उसकी महत्ता कम नहीं। निर्विकल्प आत्माके अतीन्द्रिय आनंदकी अनुभवदशाका माहात्म्य अचिंत्य-महिमावंत है क्योंकि एक क्षणार्धमें अनंतभवका नाश हो जाता है।) ३०५.

❁

आत्मा तो गंभीर है; समुद्र की माफ़िक अनंत शक्तियाँ अपने में संग्रह करके बैठा है; इसकी दृष्टि होते ही ज्ञान में भी गंभीरता और विवेक आता ही है। ३०६.

❁

बाहर के संग का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी पर्याय के साथ है, मेरे साथ नहीं। लेकिन जिसको पर्याय में ही एकत्वबुद्धि है, उसकी बुद्धि तो निमित्त के साथ लंबाती है; किन्तु ज्ञानी को पर्याय में एकत्वबुद्धि नहीं है, तो उसकी निमित्त के साथ भी एकत्वबुद्धि नहीं होती है। ३०७.

❁

संसार में हर विषय में प्रयास करते हो तो इधर का (अंतर में स्वरूप का) प्रयास भी करो न ! इस प्रयास में तो उत्कृष्ट शुभभाव होता है, जो अन्य किसी जगह नहीं होता। यह भी है तो कृत्रिम प्रयास, लेकिन अकृत्रिम प्रयास के पहले यह भी आए बिना नहीं रहता। ३०८.

❁

नित्य पड़खा और अनित्य पड़खा - ये दोनों पड़खे एक वस्तु के हैं; अब मतलब प्रयोजन-सिद्ध करने का है तो वह तो नित्य पड़खे को मुख्य करने से और अनित्य पड़खे को

गौण करने से ही सिद्ध होता है। ३०९.

❁

(विकारी) पर्याय पर की ओर तन्मयता करती है लेकिन पर के साथ तन्मय हो सकती नहीं; अंतर्मुहूर्त से अधिक पर की ओर टिक नहीं सकती। (जब कि, शुद्ध) परिणाम त्रिकाली के साथ तन्मयता करे तो (वह) वहाँ तो तन्मय हो जाता है; (साथ ही) वह तन्मयता (स्व-सन्मुखता) सदाकाल टिकती है। ३१०.

❁

जितनी धगश उग्र... उतनी जल्दी कार्य होता है। ३११.

❁

प्रश्न :- मुनि को वस्त्रादि नहीं होनेसे दुःख नहीं होता होगा ?

उत्तर :- मुनिराज को दुःख कैसा ?! उनके तो अंतर में आनंद का स्रोत बहता है; बिजली के करंट की माफिक आनंद चलता है। उनको तो वस्त्र की वृत्ति का उठना ही दुःख है; और जो शुभवृत्ति उठती है वह भी भयंकर दुःखरूप लगती है। (मुनिदशा में छट्ठे गुणस्थान में अंतरात्मपरिणति बहुत उग्र होती है जिससे वे सहज ही अंतर्मुहूर्त में निर्विकल्प सप्तम गुणस्थान में आ जाते हैं।) ३१२.

❁

`मैं' तो विकल्प से शून्य हूँ और मेरे भावों से `मैं' भरपूर हूँ। ३१३.

❁

अध्ययन आदि का काफ़ी रहस्य पूज्य गुरुदेवश्री से अपने को मिल गया है। `क्रमबद्ध' कहाँ लिखा है, अपने को क्या दरकार है? सिद्धांत बैठ गया और अनुभव में आगया, फिर क्या काम? - ऐसे महाराजसाहब से सब बातें अपने को तैयार मिल गयी हैं, जैसे कि पिता की कमाई हुयी पूँजी वारिसे में (विरासत में) बिना प्रयत्न के मिल जाए। ३१४.

❁

प्रश्न :- ज्ञानी को विषयों में आसक्ति नहीं है, इसका मतलब क्या ?

उत्तर :- अन्य मतवाले तो इसको दूसरी तरह से कहते हैं, लेकिन वैसा नहीं है। यथार्थ में तो ज्ञानी को अपने त्रिकाली स्वभाव में ऐसी आसक्ति हो गई है कि अन्य किसी पदार्थ में आसक्ति होती ही नहीं - (वे) स्वभाव में इतने आसक्त हैं। ३१५.

❁

प्रश्न :- पहले तो (बाह्य) आलंबन लेना चाहिए न ?

उत्तर :- पहले से ही `मैं परिपूर्ण हूँ' उसको आलंबन कैसा? - ऐसा लेकर, (बाह्य) आलंबन से नुकसान ही है, ऐसे निषेधपूर्वक थोड़ा आलंबन आजाता है; लेकिन अभिप्राय में आलंबन नहीं होना चाहिए - (बाह्य) आलंबन में पहले से ही निषेध-भाव होना चाहिए। ३१६.

❁

मृत्युके समय (कोई) `मुझे सुनाओ' ऐसा भाव जब उठता है, तब तो स्वयंकी तैयारी नहीं है। (जिसे) अन्दरमें (स्वरूपका

घोलन) चल रहा है उसको कोई दूसरा सुनाए - ऐसा विकल्प ही नहीं उठता, उसको तो उस समय अधिक बल होवे तो निर्विकल्पता आ जाती है; अगर निर्विकल्पता नहीं आती है तो भी स्वकी अधिकता तो छूटती ही नहीं। ३१७.

`स्वद्रव्य में जम जाना' यह एक ही कर्तव्य है, वह भी परिणाम की अपेक्षा से। `मेरी' अपेक्षा से तो `मैं' कृतकृत्य ही हूँ, कुछ भी कर्तव्य नहीं; `मैं' तो अनंत वीर्य की खान हूँ। (उसमें - मेरे ऐसे स्वरूप में - `कुछ भी करना' - यह भ्रांति है।) ३१८.

दूसरे सब पदार्थों को तो छोड़ा और देव-गुरु को चौंटा (चिपक गया); अब वहाँ से भी उखड़कर इधर (स्वरूप में) चौंटो ! ३१९.

`मैं तो चैतन्य प्रतिमा हूँ।' यह प्रतिमा कुछ नहीं देती, इससे उपकार (धर्मलाभ) नहीं हो सकता, (उपचार से) कहने में आता है। असल में तो उसका स्वरूप - अहो ! वीतरागी शांत मुद्रा देखकर....बस, `मैं भी ऐसा ही हूँ' (- ऐसा आत्मस्वरूप दिखता है।) ३२०.

जैसे वीर रसवाले को (लड़ाई आदि के प्रसंग में) शरीर छूट जानेका डर नहीं। वैसे ही शांत रसवाले को पूरा जगत् प्रतिकूल हो जाए, शरीर छूट जाए या ऐसा ही कोई प्रसंग

आ जाए तो भी वह डिगता नहीं। ३२१.

❁

(कृतकृत्य स्वभाव के अनुभव में पर्याय मात्र की कर्तृत्वबुद्धि मिट जाती है, इस संदर्भ में कहा :) `मुझे' तो शुद्ध पर्याय भी करनी नहीं है, न पुरुषार्थ करना है, न ज्ञान करना है और न ही श्रद्धान करना है - यह सब तो परिणाम का कार्य है और `मैं तो अपरिणामी हूँ', परिणाम में कभी जाता ही नहीं; तो `मैं' उसका (परिणाम का) क्या करुँ ? - परिणाम ही स्वयं पुरुषार्थ आदि रूप होता है। ३२२.

❁

सुननेवाले को (तो) दीनता है ही, लेकिन दूसरों को सुनाना चाहते हो तो वह (भाव में) भी दीनता है। ३२३.

❁

प्रश्न :- प्रयास तो करना चाहिए न ?

उत्तर :- अरे भाई ! कृत्रिम प्रयास से क्या होगा ? - उसपर वज़न नहीं आना चाहिए। `मैं वर्तमान में ही निष्क्रिय चैतन्य हूँ' वहाँ (स्वरूप में) आया तो पर्याय में प्रयास सहज उठता ही है। `मैं' तो अनंत पुरुषार्थ की खान हूँ न ! एक समय के प्रयास में थोड़े-ही आ जाता हूँ ? ३२४.

❁

`मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' फिर (स्वरूप में तो) मुक्ति का प्रयास करने का भी सवाल नहीं उठता। करना क्या है ? - परिपूर्ण में मुक्ति क्या करना ! ३२५.

❁

प्रश्न :- राग को ज्ञान का ज्ञेय तो बनाना है न ?

उत्तर :- राग को ज्ञान का ज्ञेय बनाने को जाते हैं, यह दृष्टि ही ग़लत है। ख़ुद को ज्ञेय बनाया, तो राग उसमें (जुदा) जणीजता (जानने में आता) ही है; राग को ज्ञेय क्या बनाना ? ३२६.

❁

प्रश्न :- स्व-पर की प्रतीति करने का तो शास्त्र में आता है न ?

उत्तर :- अरे ! स्व की प्रतीति करो। पर की प्रतीति (पर में नहीं, किन्तु) उसमें आ जाएगी। अपनी ख़ुद की प्रतीति करो। ३२७.

❁

त्रिकाली का पक्ष करो ! ऐसा (अपूर्व) पक्ष करो कि अनंतकाल में कभी हुआ न हो। वर्तमान का पक्ष छोड़ो ! ३२८.

❁

प्रश्न :- अनुभव में आवे तो इधर (स्वरूप में) बैठा कहा जाए न ?

उत्तर :- अनुभव की (पर्याय की) दरकार छोड़ दो। स्वाद लेना (पर्याय करना) यह कोई ध्येय थोड़े-ही है ? ध्येय का (त्रिकाली स्वभाव का) पक्ष करना चाहिए। ३२९.

❁

प्रश्न :- पक्ष इधर (स्वरूप में) आये बिना कैसे करें ?

उत्तर :- अरे भाई ! विकल्पात्मकभाव में (निर्णय में) तो यह पक्ष करो; पीछे इधर (स्वरूप में) जम जाओ। ३३०.

❁

(स्वरूप की) ऐसी रुचि होनी चाहिए कि उसके बिना एक क्षण भी चैन न पड़े। ३३१.

❁

प्रश्न :- राग ज्ञेय है, कि दुःखरूप है ?

उत्तर :- इधर (स्वभाव में) आया तो राग ज्ञान में ज्ञेयरूप जानने में आता है, और वेदन में दुःखरूप लगता है। (एक ही समय में ज्ञान के `जाननेरूप' व `वेदनेरूप' दो प्रकार के धर्म प्रगट हैं। `जाननेरूप धर्म' राग को मात्र ज्ञेयरूप जानकर ज्ञाताभाव से वर्तता है। `वेदनेरूप धर्म' वेदन करता है, तब ज्ञाताभाव होनेपर भी राग की आकुलता का वेदन दुःखरूप लगता है। इस प्रकार ज्ञान के दोनों धर्म एक साथ वर्तते हैं, यही अनेकांत है।) ३३२.

❁

राग भी उसी समय पूरता सत् है, उसको खिसकाने जाएगा.... तो तू ख़ुद ही खिसक जाएगा; उसको उसी में रहने दो... तुम तुमारे में रहो, वह (राग) स्वयं ही चला जाएगा। ३३३.

❁

मैं तो महाराजसाहब को शुद्ध-निष्क्रिय-चैतन्यबिंब ही देखता हूँ। जो भी विकल्प-वाणी-शरीर की क्रियायें हो रही हैं उनको महाराजसाहब नहीं मानता। ३३४.

❁

मोक्ष होवे न होवे - उसकी दरकार नहीं; (अतीन्द्रिय) सुख चालू हो गया फिर पर्याय में मोक्ष (तो) होगा ही। ३३५.

❁

सभी शास्त्रों का - बारह अंग का सार तो 'मैं' हूँ; शेष सब बातें तो जानने की हैं। 'अपने' को दृष्टि में ले लेने पर जो ज्ञान उघड़ता है वह सब जान लेता है। ३३६.

❁

विकल्प में तीव्र दुःख लगे और विकल्प में तणीजता (खींचाता) नहीं, उसे मचक कहते हैं; (क्योंकि साधक, स्वरूप में निरंतर स्थिर नहीं रह सकता।) जिसे मचक में (- राग में) दुःख ही न लगे, उसको तो मचक में ही अमचक है अर्थात् वह मचक में ही समूचा चला गया है; उसे मचक कहने का भी अधिकार नहीं है। ३३७.

❁

दृष्टि की बात को मुख्य रखकर सब खतौनी करनी चाहिए। इधर (- अंतर में) दृष्टि होनेपर जो ज्ञान हुआ.... वह (ज्ञान) वस्तु को जैसी है वैसा ही जान लेता है। इस दृष्टि के बिना तो किसी बात में अधिक खिँचा जाता है या किसी बात को ढ़ीला कर देता है। परंतु दृष्टि होने पर ज्ञान (मध्यस्थ हो जाता है, इसीलिए) जिसकी जितनी - जितनी मर्यादा है उसके अनुसार ही जानता है। (स्वरूपदृष्टि में सर्वस्वरूप से स्वस्वरूप की उपादेयता हो जाती है। और परिणमन का ऐसा वलण हो जाने से ज्ञान में अविवेक उत्पन्न नहीं होता जिससे ज्ञान अयथार्थरूप से हीनाधिक तूल नहीं देता। वैसी सम्यक् मर्यादापूर्वक ज्ञान की प्रवृत्ति रहती है।) ३३८.

❁

शास्त्र में सभी प्रकार की सब पड़खों की बातें न्याय,

तर्कादि से आती हैं। कोई जीव वेदांतमें से आया हो, कोई कहाँसे आया हो, किसीका कैसा अभिप्राय रहा हो, अतः सब प्रकार से (विपर्यास का) खण्डन कर, यथार्थ बात आनी चाहिए। ३३९.

❁

सब शास्त्रों का मूल तो अनुभूति पर ही आना है। ३४०.

❁

जिसको अनुभूति हुई हो - वह जीव अनुभव के बल से कौनसी बात सत्य है ? (और जो बात अनुभव से नहीं मिलती वो असत्य है - ऐसा) फौरन् जान लेता है। ३४१.

❁

इधर (- अंतर) दृष्टि हुए बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। दृष्टि होने पर उत्पन्न हुआ ज्ञान - अपना (पर में) कितना अटकाव है ? अपनी स्वभाव में कितनी जमावट है ? कितना रस है ?- यह सब सहज जान लेता है। ३४२.

❁

अपने को तो ज़्यादा ज्ञान का लक्ष्य नहीं है (क्षयोपशम बढ़ाने की चाहत नहीं है); सुख पीने का भाव रहता है। केवलज्ञान पड़ा है, उसके उघड़ने पर ज्ञान तो सब का हो जाऐगा। ३४३. (अंगत)

❁

सुखका (अतीन्द्रिय आनंदका) अनुभव हुआ... सो, किसीको पूछना नहीं पड़ता; दूसरे `ना' कहें तो कहें, अपनेको तो प्रत्यक्ष सुख आ रहा है न ! ३४४.

❁

इधर (स्वरूप में) वर्तमान में ही मुक्ति पड़ी है, वह दृष्टि में आ गयी तो दृष्टि में तो मुक्ति वर्तमान में ही होगयी और व्यक्त में भी आंशिक मुक्ति आई। और इसमें (स्वरूप में) मुक्ति है तो मुक्तदशा प्रकट होगी ही। ३४५.

❁

एक भी विकल्प जो उठता है - वह चाहे चिंतन का ही क्यों न हो (उसमें) ऐसा लगना चाहिए कि मानों अपन छुरों के बीच में पड़े हैं। विकल्प में दुःख ही दुःख लगे तब ही सुख की ओर ढलना होता है। ३४६.

❁

शक्ति में सुख भरा पड़ा है। विकल्प में दुःख ही दुःख लगे तो सुख प्रकटे बिना न रहे। ३४७.

❁

(स्वलक्ष्यी) स्वाध्याय को तप कहा है लेकिन, अरे भाई ! इधर अपनी ओर चैतन्य में जम जाना - यह परम तप (निश्चय स्वाध्याय) है। स्वाध्याय तो विकल्प है, उसे उपचार से तप कह देते हैं। ३४८.

❁

प्रश्न :- इसको आँगन तो कहे न ?

उत्तर :- यह आँगन तो है न ! ....आँगन तो है न ! ....ऐसे वज़न देकर के जीव अटक जाते हैं; परंतु आँगन, घर थोड़े-ही है ? घर में तो उसका अभाव है। (- किसी भी प्रकार के विकल्प चैतन्य-घर में नहीं है।) ३४९.

❁

जैसे व्यापारी माल देता है और उसके पैसे ग्राहक देता है; दोनों का अपना-अपना कारण है, एक दूसरे के लिए नहीं करते हैं। वैसे ही सुनानेवाले को (ज्ञानी को) अपने कारण से मचक आती है और करुणा से उपदेश का विकल्प आता है; और सुननेवाले को अपने कारण से सुनने का भाव होता है।

जैसे व्यापारी को अन्यत्र पैसे का बड़ा लाभ होनेवाला हो तो वह ग्राहक के लिए नहीं रुकता है। वैसे ही यहाँ भी सुनानेवाले का विकल्प टूट जाए तो वह सुननेवाले के लिए रुकता नहीं है। ३५०.

❁

मूल बात में अपेक्षा लगाता है तो मुझे तो खटकता है, (क्योंकि) उसमें जो तीखाश होती है वह टूट जाती है। अपेक्षा लगाने से ढीलापन हो जाता है। (मूल बात ज़ोर देते वक़्त कोई अपेक्षा लगाकर, दूसरी अपेक्षा से ऐसा भी है - ऐसा कहने से तो मूल बात गौण हो जानेसे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिए खटकता है।] [वस्तु अनंत सामर्थ्यवंत है। अतः उसके प्रति ज़ोर (भींस/दबाव) आता है। परंतु वहीं दूसरी अपेक्षा खोल कर वैसे ज़ोर को ढीला करना, वह अपेक्षा संबंधित विपर्यास है जो खटकता है।) ३५१.

❁

प्रश्न :- अनंत ज्ञानियों का एकमत होनेसे ज्ञानी को निःशंकता आ जाती है ?

उत्तर :- अनंत ज्ञानियों का एकमत होनेसे नहीं परंतु अपना

सुख पीने से ज्ञानी को निःशंकता आ जाती है। (ज्ञानी की निःशंकता स्वयं के उपादान / अनुभव पर आधारित है, दूसरे निमित्त के आधारित नहीं।) ३५२.

❁

ख़ाली निश्चय की बात करे और अशुभ में रस पड़ा रहे तो वह निश्चयाभासी हो जाता है। परंतु जो निश्चय स्वभाव में ज़ोर देकर (आश्रय करके) पर्याय की गौणता करे, वह निश्चयाभासी कैसे होवे? (निश्चयाभासी को निश्चयस्वरूप का अवलंबन नहीं होनेसे वह निजात्मरस के वेदन से शून्य है। वह सिर्फ़ निश्चय की बातों में ज़ोर देता / लगाता रहता है। ऐसी स्थितिवश उसको अशुभ में यानी पंचेन्द्रियों के विषयों में सुख के अभिप्राय पूर्वक रस आता है, जो निश्चयाभासी का प्रमुख लक्षण है।) ३५३.

❁

प्रश्न :- भक्ति-पूजामें आप कम जाते हो; चौबीसों कलाक (घंटों) निर्विकल्पता थोड़े-ही रहती है ?

उत्तर :- अरे ! चौबीसों कलाक निर्विकल्पता नहीं रहती है परन्तु उस तरफ़ ढलनेका प्रयास तो हो सकता है न ? क्या इसमें शुभभाव नहीं है ? - इसमें तो ज्यादा शुभभाव है, उसकी तो गिनती ही नहीं; और शरीरादिककी क्रिया हो उसको गिनते हो ! ३५४.

❁

जिस अपेक्षा से वस्तु का जो स्वभाव है उस अपेक्षा से शत प्रतिशत वैसा ही एकांत स्वभाव है, वह स्वभाव अन्य अपेक्षा

लगाने से ढीला नहीं हो सकता। ३५५.

❁

भक्तिका रागांश कभी तीव्र आ जाता है, वह भी सहज ही आ जाता है। अपनी तो सहज प्रकृति है, बलजोरी (हठ) अपनेसे नहीं होती। ३५६. (अंगत)

❁

परिणामका विवेक तो, जो अनंत सुखी होना चाहते हैं उनको सहज होना चाहिए। ३५७.

❁

`पुरुषार्थ करुँ' `ज्ञान करुँ'- यह अभिप्राय भी हटा दें। `तू वर्तमानमें ही पुरुषार्थकी खान है' वर्तमान परिणाम ऊपरकी दृष्टि झूठी है। ३५८.

❁

निमित्तों से तो किंचित् मात्र लाभ नहीं है; बल्कि, उघाड़ज्ञान से भी कुछ लाभ नहीं है। उघाड़ज्ञान में तुझे हर्ष (रस) आता है तो त्रिकालस्वभाव की तुझे महत्ता नहीं आई है। (जिसको स्वयं के पूर्ण ज्ञानस्वभाव की महत्ता का भान है, उसको उघाड़ज्ञान - अधूरीज्ञान की पर्याय-की महत्ता नहीं आती।) ३५९.

❁

(द्रव्य -) दृष्टि तो अस्थिरता और स्थिरता दोनों की ही नहीं क़बूलती है। ३६०.

❁

अपने त्रिकालस्वभाव को पकड़े (ज्ञान में ग्रहण किए) बिना जीवको निश्चय प्रतीति आएगी ही नहीं। ३६१.

❁

सहज पुरुषार्थ में थकान नहीं लगेगी। सोने आदि के भाव में भी दुःख लगेगा, निद्रा में थी थकान लगेगी। (सहज पुरुषार्थ के साथ सहज निराकुलता अविनाभावी रूप से रहती है; अतः सोने आदि के भाव में तथा निद्रा में भी थकान मालूम पड़ती है, ऐसा ही सहज पुरुषार्थ का स्वरूप है। स्वस्वभाव के अवलंबन में निर्विकल्प सुख सहज वर्तता है; जबकि स्वरूप के - विश्रामधाम के - अवलंबन को छोड़कर शरीराश्रित विश्राम के विकल्प में सुख कैसा ? वह विकल्प तो स्वयं ही दुःखरूप है।) ३६२.

❁

`त्रिकालस्वभाव' और `परिणामस्वभाव' यह दोनों सर्वथा जुदा ही है, लेकिन समूचे (प्रमाण के) द्रव्य की अपेक्षा से उनको एक कहने में आता है। ३६३.

❁

पर्याय-अपेक्षा से `मैं' शुद्धभाव का कर्ता हूँ, लेकिन अशुद्धभाव का `मैं' कर्ता नहीं हूँ। (- ऐसा कर्तागुण का स्वभाव है।) ३६४.

❁

एक समय के परिणाम - बंध-मुक्त - से वस्तु शून्य (रहित) है, ऐसा `परमात्मप्रकाश' में कहा है। ३६५.

❁

सुनने-करने में (शुभभाव में) थकान आनी चाहिए।

प्रश्न :- वह तो औषधि है, अमृत थोड़े-ही है ?

उत्तर :- औषधि कहने में भी ढीलापन हो जाता है, ज़हर

ही है। श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य ने तो कहा ही है न कि `विषकुंभ है।' एक दफ़ा तो जड़मूल में कुल्हाड़ा मार दो ! ३६६.

❁

प्रश्न :- एक समय के आनंद का अनुभव तो पकड़ने में आता नहीं तो कैसे ख़बर पड़े ?

उत्तर :- अरे भाई ! अनुभव ख़ुद के ख़याल में नहीं आवे, ऐसा होता ही नहीं। (क्योंकि आनंद के अनुभवकाल में निर्विकल्प उपयोग असंख्य समय का होता है।) परंतु वह परिणाम हुआ कि नहीं ? - ऐसे विचार कर-करके क्या उसमें संतोष करना है ? अरे ! सदा ही निर्विकल्प रहे तो भी (त्रिकाली स्वभाव के आगे) उसकी मुख्यता नहीं करनी है। ३६७.

❁

`दृष्टि' ऐसी प्रधान चीज़ है कि स्वभाव में दृष्टि जमते ही (सब) परिणाम खिलने लगते हैं। (``दंसणमूलोधम्मो।'' जैसे मूल में पानी सिंचन से वृक्ष पनपता है, वैसे।) ३६८.

❁

पूज्य गुरुदेवश्री घोलन (निश्चय) से पर हैं; लेकिन उनके घोलन में पर-प्रति जो करुणा है उससे न्याय आदि निकलते हैं। जैसे पिता का धन पुत्र बिना श्रम भोगता है, वैसे ही गुरुदेवश्री से मिले हुए न्याय आदि को अपन बिना श्रम भोगो ! ३६९.

❁

परिणाम से भी ऊँडा, सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व जो है सो `मैं' हूँ। ३७०.

❁

बिजीलीका करंट लगते ही भय लगता है और उससे हटना चाहते हैं। लेकिन त्रिकाली स्वभावमें प्रवेश करते ही आनंदकी ऐसी सनसनाहट होती है कि उस आनंदसे क्षण मात्र भी हटना नहीं चाहते हैं। ३७१.

❁

ज्ञान के उघाड़ में रस लगता है.... तो तत्त्वरसिक जन कहते हैं कि हमको तेरी बोली में रस नहीं आता, हमें तो तेरी बोली काक पक्षी जैसी (अप्रिय) लगती है। ३७२.

❁

सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सदा `त्रिकाली आत्मा हूँ' ऐसा ही मानते हैं। `मैं ध्रुव सिद्ध हूँ' - जिसमें सिद्ध-दशाकी भी गौणता रहती है; सिद्ध-दशाका भी प्रति समय उत्पाद-व्यय होता है; `मैं तो सदा ध्रुव हूँ'। ३७३.

अपने नाप से दूसरे का नाप करना - यही दृष्टि का स्वभाव है। ३७४.

❁

`मैं त्रिकाली स्वभाव कभी बँधा ही नहीं हूँ' तो फिर `मुझे' मुक्त कहना तो गाली है। पर्याय को मुक्त कहो वह तो ठीक है, क्योंकि वह बँधी हुई थी। परंतु `मुझे' तो मुक्त कहना भी ठीक नहीं है। ३७५.

❁

परिणति, द्रव्य को कहती है कि - मैं भी स्वयं सत् हूँ, स्वतंत्र हूँ, द्रव्य का अवलंबन लेती हूँ - यह भी अपेक्षा

से कहने में आता है; क्योंकि पर-तरफ़ का वलण (झुकाव) छूटा है, इसलिए ऐसा कहने में आता है। असल में तो परिणति अपने स्व-सत् में ही है। ३७६.

❁

इतनी-सी बात है - जो उपयोग पर में झुकता है, उसको स्व में झुकाने का है। ३७७.

❁

बात यह है कि जितना तीव्र दुःख (विकारी) पर्याय में लगे उतना ही शीघ्रता से मार्ग प्राप्त होवे, कम दुःख लगे तो देरी लगे। ३७८.

❁

ध्रुवगुफाके अंदर चले जावो - वहाँ आनंद और सुखका निधान भरा है, उसको नित्य भोगो ! ३७९.

❁

पुरुषार्थ तो चारित्र में है, दृष्टि में क्या पुरुषार्थ !

प्रश्न :- क्या दृष्टि में पुरुषार्थ नहीं है ?

उत्तर :- दृष्टि में पुरुषार्थ तो है, लेकिन चारित्र की अपेक्षा से बहुत कम पुरुषार्थ है। चारित्र में तो बड़ा पुरुषार्थ है। (जिस पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन होता है उसकी तारतम्यता तथा मुनिदशायोग्य पुरुषार्थ की तारतम्यता में कितना बड़ा अंतर है, वह सम्यग्दृष्टि को ही मालूम पड़ता है। परंतु मिथ्यादृष्टि को पुरुषार्थ विषयक ऐसा ज्ञान नहीं होता।) ३८०.

❁

(बीमारी की व्याख्या, ऐसी कही :-) उपयोग बाहर ही

बाहर घूमता रहे.... बस यही बीमारी है, इसीको मिटाना है। ३८१.

❁

निवृत्त स्वरूप की ओर जाना है तो बाहर में भी निवृत्ति का ही लक्ष्य जाता है। ३८२.

❁

निवृत्ति लेकर एकांत में आचार्यों के शास्त्र पढ़े तो उनमें से बहुत (ऊँड़ी) बातों निकलती हैं; उनमें (शास्त्र में) तो बहुत भरा है !! आचार्यों के जो शब्द हैं न.... वे आनंद की बूँद...बूँद हैं; एक-एक शब्द में आनंद की बूँद...बूँद भरी है; आनंद की बूँद...बूँद... टपकती है तो हमें रस आता है। ३८३.

❁

मेरी तो ऐसी आदत पड़ गयी है कि बाहर में चाहे-जैसी खड़खड़ाहट हो परंतु मेरे तो इधर (अंतर-परिणमन) चलता है न....! तो उधर का लक्ष्य ही नहीं रहता। खड़खड़ाहट तो पसंद ही नहीं है। ३८४. (अंगत)

❁

मुझे तो एकांत के लिए समय नहीं मिले तो चैन ही नहीं पड़ता। ३८५. (अंगत)

❁

प्रश्न :- घरवालों की हरएक प्रकार की प्रतिकूलता होनेसे अपना कार्य कैसे करुँ ?

उत्तर :- अपने अंदर में बैठकर अपना काम करो ! अपना यह कार्य अंदर में बैठकर करने में न घरवाले जानेंगे और

न बाहरवाले जानेंगे। अपन क्या करते हैं और कहाँ हैं, यह भी कोई नहीं जानेगा। - ऐसे अंदर में अपना काम हो सकता है। ३८६.

❁

प्रश्न :- समझ न होवे तो ?

उत्तर :- अरे ! तीव्र धगश होगी तो समझ भी आ जाएगी। (सत्य की तीव्र झंखना से ज्ञान सहज ही खुल जाता है।) ३८७.

❁

देव आदि तथा स्त्री आदि सभी एक अशुद्धता के ही निमित्त हैं; और शुद्धता का निमित्त तो एक 'आप' ही है। (सभी प्रकार के पराश्रित परिणामों से तो अशुद्धता की ही उत्पत्ति होती है। शुद्धता की उत्पत्ति तो एक मात्र स्वाश्रित परिणाम से होती है।) ३८८.

❁

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव भी नपुंसकता है - अपन तो ऐसे लेते हैं। ३८९.

❁

अपने यहाँ तो कच्ची-पक्की भूमिका की बात ही नहीं है। जो भूमिका (आश्रयस्थान) प्रथम है, सो ही अंत में है। अर्थात् अपन तो ऐसी भूमिका लेते हैं जो सदैव टिकती है, त्रिकाल है। ३९०.

त्रिकाली में एकत्व होनेपर राग ऐसा भिन्न दिखता है कि

जैसे अन्य चीज़ प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देती है - राग इतना प्रत्यक्ष जुदा दिखता है। ३९१.

❁

भगवान की भक्ति का अर्थ - गुणानुवाद। शास्त्रस्वाध्याय में तो इससे भी अधिक भक्ति है। ३९२.

❁

विकल्प में दुःख ही दुःख लगना चाहिए। न्याय-युक्ति से तो ऐसा माने कि - ये विकल्प शांति को रोकते हैं, अनुभूति को रोकते हैं तो दुःखरूप हैं; किन्तु अनुभव में लगे तो दुःख से हटकर सुख की ओर जावे ही। (वेदन के विषय को मात्र समझ में लेने जितना ही नहीं रखना चाहिए। परंतु सुख-दुःख जो वेदन का विषय है, उसकी समझ वेदन से (अनुभव से) करनी चाहिए।) ३९३.

❁

बंधन रहित स्वभाव के लिए वांचन-मनन घूँटण करुँ तो पकड़ में आवे, ऐसी बात ही नहीं है। `वह तो मैं त्रिकाली ही हूँ' - ऐसे वर्तमान में ही उसमें थँभ जावो। (विकल्पातीत स्वभाव के विकल्प से कभी अनुभव नहीं होता है; परंतु निर्विकल्प स्वभाव की प्रत्यक्षता को प्रत्यक्षतौरसे आविर्भूत करने से, परोक्षता विलीन होकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनुभव होता है।) ३९४.

❁

परम शुद्ध निश्चयनय से आत्मा बंधन का और मुक्ति का कर्ता ही नहीं है तो विकल्प का और मोक्ष के कर्तृत्व का ज़ोर ख़त्म हो जाता है। त्रिकाली में जमे रहें तो पर्याय भी

इधर (त्रिकाली) में सहज ही आएगी। ३९५.

त्रिकाली शक्ति में अपनापन होते ही (अन्य) सभी आलंबन उखड़ जाते हैं। ३९६.

चर्चा-वार्ता होती है तो स्पष्टता होती है।

प्रश्न :- फिर भी आप चर्चा आदि का निषेध क्यों करते हैं ?

उत्तर :- निषेध तो हर क्षण पग-पग पर करना ही चाहिए। इधर (स्वरूप में) ढलता जाता है तो निषेध होता जाता है। ३९७.

प्रश्न :- आपकी बात में क्रम आता ही नहीं, आप तो एकदम अक्रम की बात करते हैं।

उत्तर :- क्रम-फ्रम क्या ? अक्रम को (स्वभाव को) पकड़े तो क्रम (शुद्धता आदि) स्वयं होता है। (परिणाम के क्रम का विषय मात्र जानने का विषय है, अवलंबन लेने का नहीं।) ३९८.

प्रश्न :- यह सब ख़याल में होते हुए भी अंदर क्यों नहीं जम पाते ?

उत्तर :- वांचन-विचार आदि (सभी विकल्पों) में अंदर से ही खरेखर दुःख ही दुःख लगना चाहिए, (संतुष्टपना नहीं होना चाहिए,) तभी उधर से छूटकर अंदर में गए बिना नहीं रह

सकते। युक्ति आदि से दुःख समझा, वह तो सहज दुःख कहाँ लगा ? अंदर से तीव्र दुःख सहज लगे तो उधर में थकान लगने से, वहाँ रुक ही नहीं सकते; इसीसे स्वरूप में सहज ही आना होता है। ३९९.

❁

(त्रिकाली में) ढलन तो निरंतर रहती ही है। (एकांत में) तत्त्व-विचारकाल में (ढलन) विशेष होती है। लेकिन विचार तो अटकाव ही है, यह (विचार आदि) विशेष ढलन का कारण भी नहीं है। अशुभप्रवृत्ति में अंदर में ढलन चलती है और वृद्धि होती है; तत्त्व-विचार के काल में विशेष वृद्धि होती है। लेकिन ये (विचार आदि) विशेष वृद्धि के कारण नहीं हैं वे तो अटकाव ही हैं, इसलिए विचार में अधिकता नहीं होती।

त्रिकाली में ढलन होनेसे अपनने तो पर्याय मात्र को गौण कर दिया है - ध्रुवदल ही अधिक है। (मोक्षमार्ग में विचरते ज्ञानी को अपने पुरुषार्थ अनुसार ढलन (परिणति) निरंतर वर्तती है, और वह अंतरपरिणति सामान्यरूप से शुभाशुभ दोनों भावों की प्रवृत्ति के समय भी वृद्धिगत होती रहती है। फिर भी विशेषरूप से शुभाशुभभावों में चारित्रमोहनीय के रस की मात्रा जितनी कम-अधिक होती है उसीके अनुपात में पुरुषार्थ की न्यूनाधिकता होती है।) ४००. (अंगत)

❁

दुःख है तो सही, मगर उस दुःख से बचायेगा कौन ? ``ख़ुद ही शरण है'' - यही पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं। ४०१.

❁

मुक्त-शुद्ध पर्याय से द्रव्य को मुक्त व शुद्ध बताना - वह तो कलंक है। स्त्री द्वारा पुरुष (- पति) की पहचान कराना, वह तो पुरुष की हीनता है। ४०२.

❁

खुद से च्युत होना ही सबसे बड़ा पाप है। ४०३.

❁

व्यवहार से जो-जो साधन कहने में आते हैं वे सभी (निश्चय से) एकांतरूप से बाधक हैं। ४०४.

❁

(मुनि को) विकल्प-अंश क्षण-भर आता है तो कहते हैं कि `आकाश' आदि से भी गुरु महान् हैं, गुरु की महानता में तो आकाश राई के दाने के समान है' - ऐसा सुनकर (व्यवहार के पक्षवाला जीव) वहाँ चौंट जाता है कि इतने महान् हैं तो मैं विनयादि बराबर करुँ, नहीं तो निश्चयाभासी हो जाऊँगा। परंतु भाई ! निश्चयगुरु तो अपना आत्मा है; - वह पड़ा रहा ! ४०५.

❁

दृष्टि का नशा चढ़ जाए तो बारंबार अंतर में ही वलण होता है बाहर में कुछ रुचता ही नहीं। ४०६.

❁

प्रश्न :- तो क्या नशे की माफ़िक दृष्टि का स्वरूप है? अन्य कुछ देखती ही नहीं।

उत्तर :- हाँ ! दृष्टि का नशा ही ऐसा है, अन्य कुछ देखती ही नहीं; एक अपनी ओर (स्वरूप की ओर) ही दौड़ती

है। इसीलिए तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को बाहर में, चर्चा आदि में रुकना रुचता ही नहीं, वह तो अंदर ही अंदर जाना चाहता है। ४०७.

❁

शास्त्र में आता है कि मुनि को रोग आदि के होनेपर वैयावृत्त्य करनी चाहिए। अरे भाई ! ऐसा तो उस काल में सहज विकल्प में खड़ा हो, उसकी बात है। मुझे ऐसा करना चाहिए, ऐसा करना चाहिए - ऐसी पहले से दृष्टि रखी तब तो आस्रव की भावना होगई। (यद्यपि धर्मात्मा को गुणस्थान अनुरूप सविकल्पदशा के काल में यथोचित विकल्प सहज आ जाता है, तथापि उपदेशात्मक वचन में 'वह कर्तव्य है,' ऐसा भी वचनव्यवहार होता है; तो भी ऐसे जानने के विषय को, जानने के अभिप्राय की मर्यादा में नहीं रख करके यदि उसे आदरने का अभिप्राय हो जाए तो आस्रव की भावना हो जाती है अर्थात् आस्रवभाव आदरने योग्य है, ऐसा अभिप्राय हो जानेसे संवर का मार्ग बंद हो जाता है।) ४०८.

❁

अलग-अलग काल में क्षणिक शुभविकल्प जो योग्यतानुसार होनेवाले हैं सो हो जाते हैं।

प्रश्न :- भूमिकानुसार ऐसे विकल्प होते हैं - ऐसा न लेकर, होनेवाले होते हैं; ऐसा क्यों लेते हैं ?

उत्तर :- भुमिकानुसार ऐसे विकल्प होते हैं - ऐसे लेनेमें, उसकी दृष्टि वैसे परिणाम करने में चोंट जाती है। और, होनेवाले योग्यतानुसार होते हैं - इस (अभिप्राय में) दृष्टि परिणाम करनेपर

नहीं रहती बल्कि अपरिणामीपर दृष्टि का ज़ोर रहता है। ४०९.

❁

असल में तीव्र रुचि हो तो त्रिकालीदल में ही जम जाये; इधर-उधर की जँचे ही नहीं, (व्यवहार के विकल्प में रुके ही नहीं,) योग्यतापर छोड़ देवे, वहाँ ज़ोर (पुरुषार्थ) रहे ही नहीं; दृष्टि के विषय में ही ज़ोर रहे। (इधर-उधर का विकल्प रहा करता है, वह स्वरूप की अरुचि के परिणाम का द्योतक है। स्वरूप की तीव्र रुचि में अन्य विकल्प नहीं रुचते।) ४१०.

❁

सुनने-करने आदि के भाव में जो पुण्य होता है, वह तो मध्यम प्रकार का पुण्य है; और इधर स्वसन्मुखता का प्रयास चलता हो उसमें उत्कृष्ट पुण्य होता है। ४११.

❁

(रागादिक के) वेदन में दुःख लगे, सह न सके, तो अवेदक स्वभाव को पकड़े बिना न रहे। ४१२.

❁

(चर्चा सुननेवालों को लक्ष्य में लेकर :) सुनने की रुचि तो सभी की ठीक है; परंतु उससे अनंतगुनी रुचि अंदर की होनी चाहिए। (वास्तव में स्वरूप की रुचि का ऐसा स्वरूप है कि इसके आगे तत्त्व सुनने की रुचि कुछ नहीं है। अतः तत्त्व सुनने-पढ़ने आदि की रुचि में मुमुक्षु जीव को ठीकपना नहीं लगना चाहिए। `अंतर्मुख होने में बहुत बाकी है' - ऐसा ख़याल रहना चाहिए।) ४१३.

❁

प्रश्न :- सुख तो अंदर में है, फिर वृत्ति बाहर में क्यों दौड़ती है ?

उत्तर :- `सुख अंदर में लगा ही नहीं' वह तो नाम-निक्षेपसे ख़याल में आया है कि सुख `यहाँ' है; असल में तो (भावभासनपूर्वक) वैसा लगा नहीं। ४१४.

❁

प्रश्न :- अब तो (समझ हुए पीछे) प्रयोग करने का रहता है ?

उत्तर :- फिर भी वही बात आ जाती है ! प्रयोग ही `मैं' नहीं हूँ, तो करना क्या ? प्रयोग पर्याय में हो जाता है। ४१५.

❁

असल में बलवान वस्तु का बल आना चाहिए। ४१६.

❁

विकल्प, दुःखरूप लगना - यह भी नास्ति है। अस्ति में तो `मैं' सुख से भरपूर हूँ, सुख की खान हूँ।' ४१७.

(चर्चा सुननेवालों के प्रति :) सभी की लगनी तो अच्छी है; लेकिन यथार्थ लगनी लगे तो हर समय यही (स्वरूपघूँटण) चलता रहे (- इसमें) कितना समय चला जाये मालूम ही न पड़े। रुचि का स्वरूप ही ऐसा है कि - जहाँ लगे वहाँ काल (समय) दिखे ही नहीं। ४१८.

❁

प्रश्न :- परिणति को अंदर कैसे वालना (अंतर्मुख करना) ?

उत्तर :- परिणति `वालना' और नहीं `नहीं वालना,' वह (ऐसा कर्ता) `मैं' नहीं हूँ - ऐसी दृष्टि होते ही परिणति वल (झुक) जाती है। ४१९.

❁

किसी के भी प्रति अनहद प्रेम हो तो ख़ुद को ही भूल जाते हैं। ४२०.

❁

बात सुनते ही चोट लगनी - यह भी एक पात्रता है। ४२१.

❁

बोलने में ख़ुद का अभिप्राय आए बिना रहता ही नहीं। दूसरे की बात कहने जावे लेकिन अपना रस साथ में आ जाता है। ४२२.

❁

(अज्ञानी की) धारणा तो बंध तिज़ोरी के माफ़िक है, धारणा जवाब नहीं देती। प्रसंग आनेपर दुःख तो वेद ही लेवे, और फिर थोड़ी देर पीछे स्मरण करके समाधान करे - ऐसी धारणा का क्या? अनुभववाले की तो तिज़ोरी खुली हुई है। ४२३.

❁

`पक्ष करना' कहने में आता है तो जीव पक्ष में बैठ जाता है। अरे भैया ! (पक्षातिक्रांत होनेवाले को) पक्ष तो हो जाता है, (उसे) स्वभाव रुचता है तो स्वभाव का पक्ष हो ही जाता है। लेकिन पक्ष करने तक का ही प्रयोजन थोड़े है ? ४२४.

❁

प्रश्न :- पहले चिंतन होता तो है न ?

उत्तर :- अरे भाई ! पहले-पीछे की बात ही नहीं है; 'मैं ही पहला हूँ' - यहाँ से लो। चिंतन हो... लेकिन 'पहले' कहने से तो उसपर वज़न आ जाता है।

चिंतन आदि से आगे बढ़ना होता है - ऐसा कहने में आता है; चूँकि पहले लक्ष्य यथार्थ हो गया है तो इसका चिंतन चलता है, लेकिन इसका (चिंतन आदि का) भी निषेध करते-करते आगे बढ़ता है। (स्वरूपलक्ष्य विहीन चिंतन में, चिंतनपर वज़न रहता है - चिंतन की मुख्यता रहती है - सो यथार्थ नहीं है। स्वरूपलक्ष्य होनेपर इसका चिंतन सहज चलता है जो चिंतन के अभावस्वरूप है; अतः चिंतन के काल में लक्ष्य के प्रति ज़ोर रहनेसे आगे बढ़ना होता है। यों आगे बढ़ने में केवल चिंतन कारण नहीं है।) ४२५.

❁

'ख़ुद ही से काम होगा' यह तो पहले ही पक्का हो जाना चाहिए। ख़ुद का बल आए बिना तो (अन्य) कोई आधार (उपाय) नहीं है। ४२६.

❁

'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' - ऐसा सुनते ही, कुछ करना - कराना है ही नहीं - ऐसा उल्लास तो प्रथम से ही आना चाहिए; और फिर उसी की पूर्ति के लिए प्रयास करना है। ४२७.

❁

'पहले मैं सब समझ लूँ (धारणा कर लूँ) पीछे प्रयास

करुँगा' - ऐसे तो कार्य होगा ही नहीं। (अंतर -) प्रयास तो सुनते ही चालू हो जाना चाहिए। फिर थोड़ी रुकावट आवे तो उसे दूर करने के लिए सुनने-समझने का भाव आता है; परंतु `मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' - वहाँ चोंटे (वलगे) रहकर ही सब प्रयास होना चाहिए - वहाँ से तो छूटना ही नहीं चाहिए। ४२८.

❁

केवलज्ञान से अपने को लाभ होनेवाला नहीं और शुभाशुभभावों से अपने को नुकसान होनेवाला नहीं, `मैं तो ऐसा तत्त्व हूँ।' (ध्रुवतत्त्व, उत्पाद-व्यय से निरपेक्ष है - ऐसी दृष्टि की बात है।)

जैसे कोई मेरु से माथा फोड़े तो उससे मेरु हिलता नहीं है, ऐसे ही परिणाम मेरे से टकराते हैं तो भी `अपन' परिणाम से हिलनेवाले नहीं हैं। ४२९.

❁

परिणाम में बैठे हो तो द्रव्य में बैठ जाना है। परिणाम तो कम्पायमान है; द्रव्य निष्कम्प है। काँपनेवाले परिणाम के आश्रय से कम्पित ही रहोगे; निष्कम्प द्रव्य के आश्रय से निष्कम्पता होगी। ४३०.

❁

संग करने का भाव आवे, तब भी `संग नहीं करना है' -ऐसा भाव क़ायम (मुख्य) रख कर ही संग का भाव होना चाहिए। ( `असंग ही हूँ' ऐसी दृष्टि रखकर अथवा ऐसी दृष्टि करने हेतु सत्संग की भावना रहनी चाहिए।) ४३१.

❁

अपने को भावाकार (परिणामरूप) मत बनाओ, लेकिन भावों को अपने आकार (रूप) बनाओ। ४३२.

❁

एक समय की पर्याय में अपनापन करके ढीलाढच रहने से तो कर्मवर्गणायें घुस जाती हैं; और त्रिकाली नक्कर स्वभाव में अपनापन होते ही, तणाव (खिँचाव) होते ही, कर्मादि भागने लगते हैं। ४३३.

❁

प्रश्न :- सामान्य पड़खे को ही जुदा पाड़ने का है न?

उत्तर :- ऐसा कहने में आता है। सामान्य पड़खा तो जुदा ही पड़ा है, लेकिन परिणाम में एकत्व कर रखा है - इसलिए अलग पाड़ने का कहने में आता है; असल में तो जुदा ही पड़ा है। ४३४.

❁

(मुझे) द्रव्य का बहुत पक्ष हो गया है - इसलिए कथन में द्रव्य से (द्रव्य की प्रधानता से) ही सब बातें आती हैं। ४३५. (अंगत)

❁

जीव को (वर्तमान में) दुःख लगे तो प्रयास कर-करके सुख को ढूँढ लेता है। लेकिन जो धारणा में ही संतुष्ट हो जाता है तो (उसे) दुःख नहीं लगता, इसलिए इधर (अंतर में) ढूँढ़ता ही नहीं। (वर्तमान में दुःख होनेपर भी दुःख नहीं लगता है इसका कारण यह है कि उसे धारणाज्ञान में ही संतोष वर्तता है, जिससे सुख के लिए प्रयास चालू नहीं होता

है।) ४३६.

❁

इधर की (त्रिकाली की) दृष्टि होती ही (पर्याय अपेक्षा) मुक्ति चालू हो जाती है। चालू क्या हो जाती है ! (द्रव्यदृष्टि अपेक्षा या भावीनय से) मुक्ति हो ही गई। ४३७.

असल में द्रव्य का (भावभासनपूर्वक) पक्का (यथार्थ) पक्ष आ जाना चाहिए। अनादि का पर्याय-पक्ष छूट जाना चाहिए। ४३८.

❁

प्रश्न :- अंदर में तो कुछ दिखता नहीं और स्थिरता होती नहीं, इसलिए सुनने का भाव (अभिप्राय) रहता है। - क्या करें ?

उत्तर :- इसमें तो व्यवहार श्रद्धा भी नहीं आई। `सुनने का अभिप्राय ही नहीं होना चाहिए।' (सुनने का राग होना और अभिप्राय होना - इन दोनों में बहुत फ़र्क़ है।) सुनते ही इधर का (अंतर्मुखता का) प्रयास चालू हो जाना चाहिए। (तत्त्वश्रवण के संबंध में ऐसा अभिप्राय रह जाना कि श्रवण करते-करते आत्मलाभ हो जाएगा तो वह साधनविषयक बुद्धिपूर्वक की भूल है जिससे गृहीतमिथ्यात्व होता है। जिसका सुनते ही प्रयास चालू होता है, ऐसे वर्तमान पात्र जीव के वैसी भूल नहीं होती। यद्यपि सुनने का राग छद्मस्थअवस्था तक संभव है तथापि यथार्थता में किसी भी राग का अभिप्राय नहीं होता। राग व राग के अभिप्राय में दिन-रात जितना अंतर है।) ४३९.

❁

(भेदबुद्धि से) एक-एक पड़खे को जानने जाते हैं तो अखण्ड वस्तु जानने से रह जाती है। ४४०.

❁

उपयोग बाहर में जाता है तो 'अपने' (निर्विकल्प) अनुभव में अंतराय आता है। ४४१.

❁

'दृष्टि' वस्तु का अवलंबन क्या लेती है !! - वह तो समूची वस्तु को ग्रास कर जाती है; पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त हो जाती है; मालिक बन जाती है। मालिक कहने में भी भेद आ जाता है, 'दृष्टि' तो स्वयं ही उस वस्तुरूप है। ४४२.

❁

'वेदांत' न हो जाए; इसलिए जरा-सी पर्याय को बताते हैं, तो (अज्ञानी) वहाँ चोट (चिपक) जाता है। ४४३.

❁

'पर्याय में अपनापन' - वही असल में 'बौद्धमति' है। ४४४.

❁

सहज सुख (अन्य) सभी का सहज ही निषेध करता है। ४४५.

❁

एक आदमी ने कहा कि मुझे तो ज्ञानमार्ग कठिन लगता है, भक्तिमार्ग अच्छा लगता है। अरे भैया ! एक ही चीज़ में (स्वरूप में) रस आना - वही भक्ति है। भक्ति के राग का अनुभव तो अमृत को छोड़कर कीचड़ का अनुभव है।

अपनी चीज़ में स्थिर होकर ठहर जाना, वही यथार्थ (अभेद) भक्ति है। ४४६.

❁

रुचि तो उसको कहते हैं कि जिस विषय की रुचि होवे उसके बिना एक क्षण भी नहीं चल सके। पतंगा दीपक को देखते ही चोंट (झपट) जाता है, विचार नहीं करता। ऐसे ही, विचार...विचार करते रहने से क्या ? वस्तु को ही चोंट जावो ! पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त होकर (उसे) ग्रस लो ! ४४७.

❁

(उघाड़ पर जिसकी दृष्टि है, उसको) क्षयोपशम बढ़ता जाता है तो साथ-साथ अभिमान भी बढ़ता जाता है। ४४८.

❁

मुँह में पानी के साथ कचरा आते ही खदबदाहट होनेसे उसे मुँह से निकाल (फेंक) दिया जाता है। ऐसे ही राग का वेदन तो कचरा है, ज्ञानी उसको अपना नहीं मानते। ज्ञानी को किसी भी क्षण राग में अपनापन आता ही नहीं। ४४९.

❁

ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है। भारी चीज़ के ऊपर हलकी चीज़ हो तो बोझा नहीं लगता, लेकिन हलकी चीज़पर तो भारी चीज़ का बोझा लगता ही है। ऐसे ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है, खटकता है, खूँचता (सालता) है। ४५०.

❁

विचार और धारणा में वस्तु को पकड़ने की सामर्थ्य ही नहीं है। अज्ञानी वस्तु को पकड़ता (ग्रहण करता) नहीं है।

विचार में तो वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है। ४५१.

❁

प्रश्न :- प्रतिकूल संयोग में तो दुःख लगता है लेकिन विकारीभाव में दुःख नहीं लगता ?

उत्तर :- यह तो बहुत स्थूलता है। विकारीभाव हुआ - वही प्रतिकूल संयोग है, वही दुःख है, उसका दुःख लगना चाहिए। ४५२.

❁

आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनंत-अनंत सुख भरा है - ऐसे असंख्य प्रदेश सुख से ही भरपूर हैं; चाहे जितना सुख पी लो ! कभी खूटेगा ही नहीं। हमेशा सुख पीते रहो फिर भी कमी नहीं होती। ४५३.

❁

सोचते रहनेसे तो जागृति नहीं होती, ग्रहण करनेसे ही जागृति होती है। सोचने में तो वस्तु परोक्ष रह जाती है और ग्रहण करने में वस्तु प्रत्यक्ष होती है। सुनते रहने और सोचते रहनेसे तो वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। (स्वरूप) ग्रहण करने का (- अपने अस्तित्व को रुचिपूर्वक वेदन करने का) ही अभ्यास शुरू होना चाहिए। (मुमुक्षुजीव को सामान्य भावना से तत्त्वविचार चलता है। सोचना-विचारना तो बहिर्मुख भाव हैं, इसमें वस्तु परोक्ष रहती है; और ऐसेमें स्वयंके महान् अस्तित्व की जागृति नहीं होती। किन्तु स्वरूप की अनन्य रुचिसे `ज्ञानमात्र' के वेदन से प्रत्यक्ष तौरसे अस्तित्व ग्रहण का प्रयास होना चाहिए- ऐसे प्रयास से अंतर्मुखता प्राप्त होती है।) ४५४.

❁

वस्तु तो शुद्धभक्ति का (परिणाम का) भी निषेध करती है। (अर्थात् - वस्तु शुद्धपर्याय से भी निरपेक्ष है)। शुद्धभक्ति, व्यवहारभक्ति का निषेध (उपेक्षा) करती है। व्यवहारभक्ति, अन्य सब पदार्थों का निषेध (उपेक्षा) करती है। ४५५.

❁

रुचि अपने विषय में बाधक पदार्थों को फटा-फट हटा देती है, उनमें रुकती नहीं; (सीधे) अपने विषय को ही ग्रहण कर लेती है। ४५६.

❁

जिसको जिसकी प्राप्ति करनी है उस विषय में उसको सूक्ष्मता आ जाती है अर्थात् प्रयोजन के विषय में बुद्धि अधिक सूक्ष्म हो जाती है। ४५७.

❁

प्रश्न : नज़रमें तो पर पदार्थ आते हैं, स्व वस्तु नज़रमें नहीं आती, तो क्या करना ?

उत्तर : जिस क्षेत्रमें नज़रका परिणमन हो रहा है, उसी आखे के आखे (पूरे के पूरे) क्षेत्रमें वस्तु पड़ी है। जहाँसे नज़र उठती है...वही वस्तु है। अत: नज़र जहाँसे उठती है...वहीं वस्तुको ढूँढ़ लो ! ४५८.

❁

प्रश्न :- उपयोग स्व-सन्मुख होता है तब जो (परसे) भिन्नता भासती है, वैसी (भिन्नता) विकल्प के काल में भासती है क्या ?

उत्तर :- विकल्प के काल में भी प्रत्यक्ष भिन्नता का अनुभव है। मगर उपयोग को क्यों मुख्य करते हो ? `मैं तो ध्रुवतत्त्व

हूँ' इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा-ज्ञान विकल्प के काल में (धारणा की माफ़िक) खाली पड़े हुए नहीं है, लेकिन परिणमनरूप है। ४५९.

❁

वस्तु को ग्रहण करना, पकड़ना, सन्मुख वलना (ढलना) - यह सब कथन में आता है। असल में तो त्रिकाली वस्तु में अहम्पन आ जाना, उसी को - ग्रहण किया, सन्मुख हुआ, आश्रय लिया, पकड़ा, - ऐसा कहते हैं। असल में परिणाम भी सत् है, उसको अन्य का अवलंबन नहीं है। ४६०.

❁

हर क्षण मृत्युके लिए तो तैयार ही रहना; कभी भी हो और कैसी भी वेदना हो - सातवीं नरक जैसी भी वेदना हो, फिर भी क्या ? (मृत्यु तथा मृत्युकी वेदना - दोनोंसे `मैं' अधिक हूँ, ऐसा मैं मेरे स्वसंवेदनसे अनुभव करता हूँ।) ४६१.

❁

विकल्पात्मक निर्णय छूट कर स्वआश्रित ज्ञान उघड़ता है। जो ज्ञान सुख को देता है, वही ज्ञान है। ४६२.

❁

व्यवहार, व्यवहार की अपेक्षा से सत्य ही है। ४६३.

❁

जिस चीज़ को पकड़नी है उसको पहले पूरी समझ लेनी (यथार्थ निर्णय कर लेना) चाहिए। ४६४.

❁

परसन्मुख उपयोग होता है, वह आत्मा का उपयोग ही

नहीं है, (वह तो) अनुपयोग है। आत्मा का उपयोग तो परमें जाता ही नहीं; और परमें जावे वह (आत्मा का) उपयोग ही नहीं। ४६५.

❁

ध्रुवतत्त्व को समझने के लिए पर्याय के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिए पर्याय से सभी बातें कहने में (समझाने में) आती हैं। ४६६.

❁

(एक समय का) अनंत आनंद का वेदन आवे - वह भी `मैं; (त्रिकाली तत्त्व) नहीं हूँ; क्योंकि वेदन का `मेरे' में (त्रिकाली में) अभाव है। `मैं' एक समय के वेदन में आ जाऊँ तो `मेरा' नाश हो जाए। (`मैं' एक समय की पूर्ण पर्याय जितना ही नहीं हूँ, लेकिन पूर्ण पर्याय से भी अधिक हूँ - ऐसा कहने का भाव है।) ४६७.

❁

विकल्प उठे तो ऐसा कहे कि `हे गुरु ! आप मेरे सर्वस्व हैं' (लेकिन) उसी समय अभिप्राय तो यह कहता है कि `मुझे आपकी ज़रूरत नहीं,' `मेरा सर्वस्व तो मेरे पास है' इतना विश्वास और (स्वरूप का) उल्लास तो ज़रूर आ जाना चाहिए कि (मेरे कार्य के लिए) मुझे देव-गुरु की भी ज़रूरत नहीं; सुनने-करने की भी ज़रूरत नहीं, मेरा कार्य मेरे (अंतर-पुरुषार्थ) से ही होगा। ४६८.

❁

दूसरे में लाभबुद्धि है, तभी तो उसीमें जुड़ने की तीव्र

वृत्ति नियम से रहती है। ४६९.

❁

दृष्टि तो हर समय अपने को पूर्ण ही देखती है। मुनि भी ऐसा कहते हैं कि `हम तो पामर हैं' लेकिन उन्हें तो अपनी खिली हुई परिणति का मुक़ाबला पूर्ण (स्वरूप) के साथ करते हुए, अपनी पामरता लगती है - इस अपेक्षा से (अपने को पामर) कहते हैं। दृष्टि तो साधक-बाधकपना ही नहीं स्वीकारती है। ४७०.

❁

पर्याय नई घड़नी नहीं है। इधर (अंतर) दृष्टि होते, (शक्तिरूप / योग्यातारूप) पड़ी है.... सो प्रकट हो जाती है। ४७१.

❁

(अज्ञानी के) परलक्ष्यी उपयोग में (ज्ञान में) राग को भिन्न जानने की ताक़त ही नहीं है। परलक्ष्यी उपयोग को तो अचेतन ही गिनने में आता है। ४७२.

❁

पहले तो असली (निरपेक्ष) बात नक्की कर लो, फिर अपेक्षित बातों का खतियान कर लो। एक ओर, परद्रव्य का चिंतन राग का कारण बतावें; दूसरी ओर, केवली के द्रव्य-गुण-पर्याय का चिंतन मोहक्षय का कारण बतावें; - सो परद्रव्य का चिंतन राग का कारण है, यह तो `सिद्धांत' है; और मोहक्षय का कारण तो `निमित्त की अपेक्षा' से बताया है। ऐसे सभी जगह `निरपेक्ष' बात निश्चितकर, फिर `अपेक्षित' बात को समझ

लेना है। ४७३.

❁

मृत्यु कब आनेवाली है, यह तो निश्चित (जानकारीमें) नहीं है, परन्तु आने की है सो तो निश्चित है; इसलिए हर क्षण तैयार रहना है। शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ; रोम-रोम पर धधकती सूईयाँ लगा दी जाएँ ...फिर भी, `अपने ध्रुव तत्त्व' में इनका प्रवेश ही कहाँ है? ४७४.

❁

पहले ही से शरीरसे भिन्नताका जिसने (प्रयोगात्मक) अभ्यास किया है, वो ही मरण समय (पुरुषार्थमें) टिक सकता है। क्योंकि जिसकी जो रुचि होती है, वही मरणके समय मुख्य हो जाती है। अतः जिसने पहलेसे ही भिन्नताका अभ्यास किया है, वो ही टिक सकेगा।

उत्कृष्ट पात्र होवे - जिसकी एक-आध भवमें मुक्ति होनेवाली हो, वही (मरण-समय) निर्विकल्प समाधि रख सकता है। उससे नीचे (कम योग्यता) वालेकी विकल्प पूर्वक (आत्म-लक्ष्य सहित) इसी तत्त्वकी दृढताका चिंतन चलता है। उससे नीचेवालेको देव-शास्त्र-गुरुकी भक्तिका विकल्प आता है। साधकको तो आकरी (तीव्र) वेदना आदि हो, कुछ भी न चले, तो भी ध्रुव तत्त्वकी अधिकता तो छूटती ही नहीं। ४७५.

❁

अपने से अपनी पात्रता मालूम हो जाती है; दूसरा कहे, न कहे - इससे मतलब नहीं है। द्रव्य स्वतंत्र है न ! इसको पर की अपेक्षा ही नहीं है। ४७६.

❁

प्रश्न :- ज्ञानी को आंशिक शुद्धता का ध्येय नहीं है ?

उत्तर :- आंशिक शुद्धता क्या ? पूर्ण शुद्धता का (- एक समय की भेदरूप अवस्था का) भी ज्ञानी को ध्यान नहीं है। `मैं तो त्रिकाल शुद्ध ही हूँ।' ४७७.

❁

आचार्यदेव ने `नियमसार' में कहा है कि - भाई ! केवलज्ञानादि (क्षायिक) पर्याय भी परद्रव्य है, परभाव है, हेय है। - तब तुम क्षयोपशमज्ञान में तो रुको ही मत। ४७८.

❁

जहाँ तक परिणाम का लक्ष्य रहता है वहाँ तक `मैं पुरुषार्थ करुँ, अंतर में वलुँ (ढलुँ) - ऐसे कर्तृत्व का बोझा रहा ही करता है।' इसलिए तो कहता हूँ कि `भाई ! तू परिणाम मात्र का लक्ष्य छोड़; विकल्प-निर्विकल्प सभी पर्यायों का लक्ष्य छोड़; अनुभव हुआ, नहीं हुआ वह न देख।' (मुमुक्षुजीव को तत्त्वविचार चलता है, उसमें जब तक उक्त प्रकार के परिणाम आते हैं तब तक उसका वैसे परिणामों पर वज़न / ज़ोर जाता है तो जिस मात्रा में पुरुषार्थ सामान्यस्वरूप के प्रति होना चाहिए, वह उत्पन्न नहीं हो पाता है। अतएव तत्त्वविचारक मुमुक्षु को तद् विषयक अत्यंत सावधानी आवश्यक है।) ४७९.

❁

मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, यह देखो ही मत ! `मैं तो ध्रुव तत्त्व हूँ' - यहाँ आते ही मिथ्यात्व-पर्याय भी निश्चय से - नियम से चली जाएगी। दृष्टि के निर्णय में पूर्ण शुद्धि भरी हुयी है। (दृष्टि के विषयभूत स्वस्वरूप में पूर्ण शुद्धि भरी

है, अतः उसके निर्णय में भी अर्थात् निर्णय के गर्भ में भी पूर्ण शुद्धि का सत्त्व है। स्वरूपनिर्णय के काल में नियम से स्वरूप अस्तित्व का ग्रहण होता है और स्वभाव के संस्कार ऐसे पड़ते हैं कि जिसके फलस्वरूप सिद्धपद प्रगट होगा ही। ऐसे दृष्टि के विषयभूत स्वस्वरूप का निर्णय होते ही सभी अवस्थाओं के प्रति उपेक्षा सहज ही हो जाती है।) ४८०.

❁

यह ध्रुवतत्त्व किसीको नमता (झुकता) ही नहीं है। ख़ुद की सिद्धपर्याय को भी नहीं नमता। ४८१.

❁

मुनि के पास कोई शास्त्र हो, और कोई उस शास्त्र को माँगे तो मुनि फौरन् दे देते हैं। क्योंकि वे खुद ही तो पराश्रयभाव छोड़ना चाहते हैं। इसीसे माँगे तो सहज दे देते हैं। (मुनिदशा में उपकरण के प्रति भी ममत्व नहीं होता है।) ४८२.

❁

ज्ञानी को भगवान की रागवाली भक्ति का प्रेम होता है; लेकिन इधर की (- आत्मा की) भक्ति में जैसा प्रेम है, वैसा वहाँ नहीं होता। ४८३.

❁

(स्वयंके बारेमें :) मैं तो विकल्पोंसे एकदम थक गया था; तभी (जैसे कोई) ऊपरसे एकदम नीचे पटके, वैसे पर्यायसे छूटकर (ज़ोर पूर्वक चेष्टासे) अन्दरमें (निर्विकल्प अनुभवमें) उतर गया।

४८४. (अंगत)

❁

(शुरू-शुरूमें धार्मिक) पुस्तकोंका बहुत पठन था, सैकडों पुस्तकें पढ ली थी, मगर दृष्टि नहीं मिली। पू. गुरुदेवश्रीसे दृष्टि मिली, पीछे पुस्तक पढ़नेका रस कम हो गया।

४८५. (अंगत)

❁

जैसे संयोग की इच्छावाले को इच्छानुसार संयोग का मिलना पुण्य का उदय तो है, लेकिन उसमें (भोगने में) वह पाप की पुष्टि करता है। वैसे ही देव-शास्त्र-गुरु का मिल जाना यह पुण्य का उदय तो है, लेकिन उनके प्रति के भाव में (शुभभाव में) मग्नता (एकत्वबुद्धि) होनी, वह मिथ्यात्व के पाप की ही पुष्टि है। (देव-शास्त्र-गुरु वास्तव में तो भेदज्ञान के निमित्त हैं। फिर भी जो जीव इस तथ्य से अनभिज्ञ है, वह मात्र शुभभाव में एकत्वबुद्धि को दृढ करता हुआ परिणमता है, जिससे उसे आत्महित की जगह उलटे मिथ्यात्व की ही पुष्टि हो जाती है।) ४८६.

❁

रात्रि में निद्रा सहज कम हो जाती है; क्योंकि आराम तो सच्चे स्वरूप में ही है, तो उस तरफ की एकाग्रता में निद्रा तो सहज ही कम हो जाती है।

जिसको सारे दिन इधर-उधर के विकल्पों की थकान बहुत होती है, उसको आराम के लिए निद्रा विशेष आती है। लेकिन जिसको इधर-उधर करने का कर्तृत्व ही छूट गया है; उसे थकान न होने से निद्रा भी कम आती है। जैसे मुनिराजों को अंतर की जागृति के कारण विकल्प की थकान नहीं

है, तो निद्रा भी कम है।

मुझे तो (सोते वक्त) पहले दो घंटे नींद नहीं आती है; फिर थोड़ी नींद आ जाये तो जगते ही ऐसा लगता है कि क्या नींद आ गई थी ! पीछे नींद उड़ जाती है और यही (- स्वरूप-घोलन) चलता रहता है। ४८७. (अंगत)

❁

जैसे उधर के पण्डितों को लगता है कि हम सब जानते हैं; वैसे वांचनकार हो जावे और उघाड़ हो जाए तो (लोग) `हम समझते हैं' - (ऐसे अहम् में) अटक जाते हैं। - ऐसे वह उघाड़ रुकने का (अटकने का) साधन हो जाता है। पण्डितों का संसार तो शास्त्र कहा है न ! ४८८.

❁

असल में सुनने आदि का रस कम हो जाना चाहिए, - वह कम कब होगा ? कि - जब अंदर का रस बढ़ता जावे तभी उधर में रस कम होता जाता है। (इसलिए) शुरू से ही उधर में (सुनने आदि में) ज़ोर नहीं आना चाहिए। (मुमुक्षु जीव को शुभभाव में रस आता है, वह भी विभावरस ही है। सिद्धांत तो यह है कि कहीं भी (शुभाशुभभाव में) विभावरस तीव्र नहीं होना चाहिए। अतः ऐसी समझपूर्वक अत्यंत सावधानी रहने से, उक्त प्रतिबंधक रस तीव्र न होनेसे, अंतरस्वभावरस उत्पन्न होनेका अवकाश बनता है; और वैसे अवकाश से अंतरस्वभाव रस आविर्भूत होनेकी प्रक्रिया संभवित है।) ४८९.

❁

दूसरों के लिए अमुक प्रवृत्ति करना, वह तो बोझा हो

गया। यहाँ (मुझे) तो सहज की आदत है। दूसरे अपने लिए चाहे जैसा अभिप्राय बाँध लें। (निर्दोष को शंका या चिंता नहीं रहती। परलक्ष्यीप्रवृत्ति लोकसंज्ञारूप आत्मघाती बड़ा भारी दोष है।) ४९०. (अंगत)

❁

प्रश्न : यह सभी बात सत्य है, लेकिन विकल्प टूटता नहीं है ?

उत्तर : विकल्पसे क्यों ड़रते हो ? इसको भी इसीकी सत्ता में रहने दो; और तुम तुमारी त्रिकाली सत्ता में रहो। विकल्प को तोड़ने-मोड़ने जाओगे तो तुमारी ध्रुवसत्ता का (श्रद्धा में) नाश होगा; और फिर भी ये विकल्प तो टूटेंगे नहीं। ४९१.

❁

सागरों तक बारह अंग का अभ्यास करते हैं, लेकिन इस परलक्ष्यी ज्ञान से तो नुकसान ही नुकसान है। जो उपयोग बाहर में जाये तो दुःख होवे ही; स्वउपयोग में ही सुख है। (यहाँ परसत्तावलंबनशीलज्ञान का निषेध है।) ४९२.

❁

पर्याय को स्वसन्मुख करुँ, अंतर में वालुँ, अंतर में ढलुँ - ऐसी-ऐसी (पर्याय के कर्तापने की) सूक्ष्म भ्रांति जीव को रह जाती है। पर्याय का मुख (दिशा) पलटना है, इस अपेक्षा से यह बात सच है; लेकिन ध्रुव पर बैठते ही वह (स्वसन्मुखपना) सहज होता है। ४९३.

❁

जैसे भी परिणाम हो, लेकिन अपन उसके गुलाम क्यों ?

(`मैं' तो एक समय के परिणाम से निरपेक्ष ध्रुवतत्त्व हूँ।) ४९४.

स्वछंदसे ड़रो मत ! (स्वरूप के अभान में) अभी तक स्वच्छन्द ही तो चलता आया है। अब तो `सहज स्वच्छन्द (-स्व में प्रवृत्तिरूप) `दशा' प्रकट करो ! विवेक अपने आप आ जाएगा। ४९५.

प्रश्न :- ध्रुवतत्त्व का माहात्म्य विशेष है कि ध्रुव को पकड़नेवाली पर्याय का ?

उत्तर :- अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनों का माहात्म्य है। असल में तो ध्रुवतत्त्व का ही माहात्म्य है। पर्याय का माहात्म्य आनेसे तो जीव पर्याय में बैठ जाता है।

प्रश्न :- ध्रुवतत्त्व तो अभव्य में भी है, लेकिन उसे पकड़ा नहीं तो क्या लाभ ?

उत्तर :- अरे भाई ! भवि-अभवि दोनों `अपन' नहीं। `अपन तो ध्रुवतत्त्व हैं' जिसमें इन दोनों का अभाव है। ४९६.

रुचि अपने कार्य में बाधा नहीं आने देती है, वह संयोग को और विकल्पों को नहीं गिनती। (स्वरूप की) रुचि हो तो हर समय यही का यही (स्वरूप का) चिंतन चलता रहे। ४९७.

दूसरोंको लगे कि मैं देख रहा हूँ, लेकिन कोई (घरमें) चोरी कर जाए तो भी मुझे मालूम न पड़े। मेरे कपड़े कितने

हैं ? घरमें चीज़-वस्तु है या नहीं ? - मुझे कुछ मालूम नहीं रहता। (व्यवहारमें लक्ष्य इतना कम हो गया था)।

४९७ अ. (अंगत)

❁

रुचि हो तो प्रवृत्ति में भी अपने कार्य में विघ्न नहीं आता। दूसरे से तो कुछ लेना नहीं है, और (स्वयं) सुख का धाम है। उपयोगरहित चक्षु की माफ़िक (बाहर से) प्रवृत्ति में दिखाई तो दे, परंतु उपयोग (सावधानी) तो इधर (अंतर में) काम करता रहे। ४९८.

❁

(ज्ञानी को) भक्ति आदि के शुभभाव आवे तब बाहर में तो उल्लसित दिखाई दे, लेकिन उसी क्षण अभिप्राय निषेध करता है। ४९९.

❁

प्रश्न :- अशुभ में तो दुःख लगता है, लेकिन शुभ में दुःख नहीं लगता है ?

उत्तर :- शुभ को ठीक माना है, इसलिए दुःख नहीं लगता। पहले अशुभ में ठीक माना था तो वहाँ दुःख नहीं लगता था। इधर (आत्मा में) आवे तो इधर के सुख के अनुभव में शुभ-अशुभ दोनों ही दुःखरूप दिखते हैं। जैसे मक्खी फिटकरी पर बैठते ही फट-से उड़ जाती है, किन्तु शक्कर पर बैठी हो तो भले ही पंख टूट जाएँ.... तो भी, उठना नहीं चाहती - ऐसे यहाँ भी समझ लेना। (शुभ-अशुभ दोनों में ही दुःख है; फिर भी उनमें दुःख न लगने का कारण वहाँ ठीकपना माना

है। अतएव स्वयं के अवलोकन से उक्त प्रकार की भूल निवृत्त हो तो शुभाशुभभाव में रहा हुआ वास्तविक दुःख मालूम पड़ेगा। परंतु इस विषय की समझ को मात्र न्याय-युक्ति की मर्यादा में रखना योग्य नहीं है; अवलोकनपद्धति में आना ही श्रेयस्कर है।) ५००.

❁

जिसको अपना सुख चाहिए उसे, अपना सुख जिनको प्रकटा है, उनके पास (सर्वार्पण बुद्धिपूर्वक शरण में) जानेका भाव आता है। ५०१.

❁

शास्त्र इधरसे (आत्मामेंसे) निकलते हैं तो इधरसे निकली सब बातें शास्त्रसे मिल जाती हैं। शास्त्र देखकर इधरका मिलान नहीं करना है, किन्तु इधरसे निकली बात शास्त्रसे मिलान कर लेना। (शास्त्र देखकर स्वयंकी समझको मिलान करनेकी पद्धति उचित नहीं है कयोंकि इस पद्धतिसे स्वयंके अभिप्राय अनुसार शास्त्रवचनका अर्थघटन (समझ) होनेकी संभावना है; और इसमें जो भूल रही हो तो वह शास्त्राधारसे और दृढ़ हो जाती है; साथ ही ऐसी पद्धतिसे ज्ञानीके वचन भी शास्त्र - आधारसे स्वीकार करनेका अभिप्राय रह जाता है जिससे प्रत्यक्ष सत्पुरुषके वचनपर प्रीति / भक्ति / विश्वास नहीं रहता। अतएव समझी हुई बातको, अनुभव-पद्धतिसे समझना चाहिए; और वैसे अनुभवको शास्त्रसे मिलान करना ही सही पद्धति है; अर्थात् उपादानकी मुख्यतावाली पद्धत्ति ही सही पद्धत्ति है)। ५०२.

❁

निर्विकल्पता पर वज़न नहीं देना [पर्याय पर वज़न नहीं देना] - यह मेरेसे [ध्रुव पदसे] बड़ी थोड़े-ही है ? ५०३.

❁

सिद्धजीवोंसे संसारीजीव अनन्त गुने हैं। फिर भी, सिद्धजीव संसारीजीवोंको अपनी ओर खींचते हैं। (लेकिन) संसारीजीव (एक भी) सिद्धजीवको अपनी ओर नहीं खींच सकते। इससे ही सिद्धजीवोंकी विजय सिद्ध हो गई। ५०४.

❁

पुरुषार्थ के धाम में पुरुषार्थ जम गया, वही पुरुषार्थ है। ५०५.

❁

प्रश्न :- आत्मा तो दिखता नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे होवे ?

उत्तर :- परिणाम तो दिखता है न ! तो परिणाम जिसमें से आता है.... उस (अनंत प्रत्यक्ष) चीज़ का पहले अनुमान किया जाता है, फिर (वेदन से) प्रत्यक्ष करना। ५०६.

इसकी तो ज़रूरत है न !.... उसकी तो ज़रूरत है न ! (- ऐसा भाव अज्ञानी को रहता है।) अरे भैया ! पहले `मैं अज़रूरियातवाला (निरावलंबी) हूँ' - यह तो निर्णय करो ! ५०७.

❁

(व्याप्य-व्यापकता से) पर्याय तक ही अपना कार्य सीमित है; परपदार्थ से तो कुछ संबंध है ही नहीं - ऐसा निश्चय होगया, फिर तो अपने में ही शोध चालू होगी। ५०८.

❁

महाराजसाहबने दुष्कालमें सुकाल कर दिया है - यह क्या कम महत्त्वकी बात है ? इस कालमें जहाँ ऐसी बात सुननेको नहीं मिलती, वहाँ (तत्त्वकी) मुसलाधार वर्षा कर दी है। ५०९.

❁

प्रश्न :- हमें सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं, यह कैसे मालूम होवे ?

उत्तर :- यह प्रश्न ही बतलाता है कि तुमे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तभी ऐसी शंका होती है। अन्य मानें तो सम्यग्दर्शन है, ऐसा नहीं है। ५१०.

❁

'मैं कृतकृत्य चैतन्यधाम हूँ, विकार ने मुझे छुआ ही नहीं, मैं ध्रुवधाम हूँ' - ऐसा अपना अहम्पना आना चाहिए। ५११.

❁

मेरा स्वभाव ज्ञान-दर्शनादि से लबालब भरा हुआ है, इसमें नया कुछ करना नहीं है, कुछ बढ़ाना भी नहीं है। ५१२.

❁

पूज्य गुरुदेवश्रीने जो उपदेश द्वारा बतलाया सो ही कार्य मैंने किया है। जगत्में मुझे मान या यश मिले, वह मुझे पसंद नहीं है। ५१३. (अंगत)

❁

परिणामों के चक्र में माथा (सिर) दिया तो हमेशा माथा फूटता रहेगा। ५१४.

❁

(भव-भ्रमण से) थक गए हो तो (स्वरूप में) बैठ जाओ;

नहीं थके हो तो चलते रहो ! ५१५.

❁

बंध तथा मुक्ति में भेद नहीं है। (दोनों एक समय का परिणाम है।) द्रव्य को मुक्त कहना, कलंक है। तत्त्वरसिकजन, आसन्न भव्य, विज्ञानघन के रसीले पुरुष बंध-मोक्ष का भेद नहीं देखते। ५१६.

❁

प्रश्न : गुरुदेवश्रीकी बात भी अच्छी लगती है और बाहरकी अनुकूलता भी अच्छी लगती है ; जब कि गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि ``एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं'' ?

उत्तर : एक शुभ है, एक अशुभ है - दोनों जगहोंसे हटकर, तीसरी [शुभाशुभ रहित] जगह आ जाओ। ५१७.

❁

व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, जिसका सार यह है कि `परिणाम मात्र अभूतार्थ है।' ५१८.

❁

अज्ञानी, उत्पाद-व्यय के साथ चला जाता है। ज्ञानी ने नित्य में (स्वभाव में) अपना अस्तित्व स्थापित किया है, जिससे वह उत्पाद-व्यय के साथ चला नहीं जाता, (उत्पाद-व्यय को) जान लेता है। (अज्ञानदशा में उत्पाद-व्ययरूप चलित भाव में अस्तित्व स्थापित रहने से स्वयं के अनित्यरूप का ही अनुभव वर्तता है। जब कि ज्ञानदशा में नित्यस्वभाव में अस्तित्व स्थापित होनेसे दोनों अंगो का एक साथ ज्ञान रहता है।) ५१९.

❁

(द्रव्य का) शुद्धपर्याय के साथ व्याप्य-व्यापक संबंध पूरे द्रव्य के क्षेत्र के हिसाब से (प्रमाण से) है। (सामान्य, विशेषरूप नहीं हो जाता है।) ५२०.

❁

पहले तो धारणा बराबर होनी चाहिए; लेकिन धारणा अन्तरमें उतरे तभी सम्यग्ज्ञान होता है। धारणामें भी लक्ष्य तो इधरका (आत्माका) होना चाहिए। ५२१.

❁

पर्याय में तीव्र से तीव्र अशुभ परिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्ध परिणाम हो `मेरा' कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं। `मैं तो वैसा का वैसा ही हूँ।' (पर्याय में कितना भी फेरफार हो लेकिन द्रव्य तो एकरूप रहता है; इसलिए ध्रुव-नित्य स्वभाव के आगे किसी भी प्रकार की क्षणिक-अनित्य पर्याय का मूल्य नहीं है।) ५२२.

❁

मैं पहले तो सब जान लूँ...सुन लूँ...पीछे पुरुषार्थ करुँगा; तो पीछेवाला सदा पीछे ही पीछे रहेगा। वर्तमान इसी क्षणसे ही पुरुषार्थ करनेकी यह बात है - पहले अपने आत्माकी प्रभावना करनेकी बात है। ५२३.

❁

अपने द्रव्य में दृष्टि का तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है। ऐसे प्रमाण हुआ ज्ञान सभी बातें जान लेता है। (अपनी आंशिक शुद्धि, अशुद्धि और इनके निमित्त आदि सभी को प्रमाणज्ञान जान लेता है।) ५२४.

❁

करोड़ों शास्त्र पढ़ो तो भी (अनुभव-बिना वह) मात्र मन का बोझा है, आँमला (गुबार/भड़ास) है, भार है। ५२५.

❁

उल्लास में उल्लास आ जावे, वह योग्य नहीं। (राग होना वह उतना अपराध नहीं है जितना कि राग का राग होना। क्योंकि राग का राग अनन्तानुबन्धीका कषाय है।) ५२६.

❁

परिणाम की मर्यादा देखते रहने से अपरिणामी का ज़ोर छूट जाता है। (अपरिणामी के ज़ोर में परिणाम का ज्ञान सहज रहता है।) ५२७.

❁

पर्याय में बैठ करके घूँटन करने से तो पर्याय में ठीकपना रहता है, ऐसे कृत्रिम प्रयास का अभिप्राय छोड़ो ! ५२८.

❁

असल में बात इतनी-सी ही है कि `इधर में (अंतर में) जम जाना चाहिए, त्रिकाली अस्तित्व में प्रसर जाना चाहिए।' (अस्तित्व में प्रसर जाना अर्थात् परिणाम अंतर्मुख - स्वसन्मुख होकर अपने पूरे क्षेत्र में व्याप्य-व्यापकभाव से स्वयं का स्वभावरूप अनुभव करना।) ५२९.

❁

सुनना, पढना, चर्चा करना - यह सभी ऊपर - ऊपरकी बातें हैं; असलमें तो अन्दरमें जम जाना चाहिए, स्वरूपमें ऊँड़े उतर जाना चाहिए। ५३०.

❁

षट् आवश्यक आदि क्या ? - एक ही (निश्चय) आवश्यक है - यह बात `आत्मधर्म' में पढ़कर ऐसी चोट लगी कि बस ! यही बात ठीक है। ५३१. (अंगत)

❁

प्रश्न : शुरुआतवालेको अनुभवका कैसे प्रयत्न करना ?

उत्तर : `मैं परिणाम मात्र नहीं हूँ,' `त्रिकाली ध्रुवपनेमें अपनापन स्थापना' - यही एक उपाय है। ५३२.

❁

एक ही `मास्टर की' (Master Key) है; सब बातोंका सब शास्त्रोंका एक ही सार है - `त्रिकालीस्वभावमें अपनापन जोड़ देना है'। ५३३.

❁

विचार आदि तो पर्याय का स्वभाव होनेसे चलता ही रहता है, परंतु ज़ोर ध्येय स्वभाव की ओर रहता है तो परिणति (अंतर में) ढल जाती है। ५३४.

❁

इसका (ध्रुव - दृष्टिका) बल आए बिना, (जीव) दूसरी जगह अटकेगा ही। ५३५.

❁

निश्चयमहाराजजी को नहीं जाना तो इन महाराजजी (पूज्य गुरुदेवश्री) को भी विपरीत ही जाना। (- यथार्थरूप में नहीं जाना।) (निश्चय आत्मस्वरूप का अज्ञान होनेपर देव-शास्त्र-गुरु का भी यथार्थ स्वरूप जानने में नहीं आता अथवा प्रायः विपरीत जानना होता है।) ५३६.

❁

परिणाम (- प्रति) के रस को यम का दूत जानो। (किसी भी प्रकार के परिणाम पर रसपूर्वक वज़न जाता है तो उसमें बहुत नुकसान होता है अर्थात् स्वभावप्रति का ज़ोर नहीं आनेका कारण बनता है। संसारदशा में रागरस ही रहता है, यही अनंत संसार का कारण है।) ५३७.

❁

विचार करना - निर्विचार होनेके लिए।
मिलना - फिर नहीं मिलने के लिए। ५३८.

❁

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु भी `स्वभाव' के अनायतन हैं। ५३९.

❁

परिणाम (`मेरा') अवलंबन लेता है, `मैं नहीं।' ५४०.

❁

प्रौढ विवेक : `मैं निष्क्रिय चिन्मात्र वस्तु हूँ।' ५४१.

❁

कई लोग संसार की दुकानदारी छोड़, शास्त्र की दुकानदारी में फँस गए। ५४२.

❁

यहाँ तो अनुभूति से ही शुरुआत होती है। अनुभव हुए बिना पर्याय से भिन्नता होती ही नहीं। (- पर्यायबुद्धि नहीं छूटती।) ५४३.

❁

गुरुदेवश्री के उपदेश में इतना ख़ुलासा है कि - उस नीवँ से धर्म पंचमकाल तक टिकेगा - ऐसा दिखता है। ५४४.

❁

कार्य से (पर्याय से / पर्याय को मुख्य रखकर) कारण को (त्रिकाली द्रव्य को) देखते हो, इससे तो मुझे ऐसी चोट लगती है कि यह क्या ! - ऐसी दृष्टि में तो त्रिकाली से जुदापना ही रहता है, तो फिर त्रिकाली में एकता कैसे होगी ?

वर्तमान पर्याय में तो `मैं-पना' (पर्यायबुद्धि) स्थापित है और त्रिकाली (स्वरूप) की ओर जाना चाहते हो !! लेकिन पर्याय में `मैं-पना' छूटे बिना, त्रिकाली में `मैं-पना' कैसे होगा ? ५४५.

❁

प्रश्न :- तिर्यंच को तो अनुभव का सुख ठीक और राग का दुःख वह अठीक - ऐसा रहता है; उसमें `त्रिकाली ही मैं हूँ' ऐसा कैसे भासता होगा ?

उत्तर :- त्रिकाली में आये बिना (- त्रिकाली ही मैं हूँ, ऐसे अनुभव बिना) सुख होता ही नहीं.... तो उसमें त्रिकाली स्वभाव का आश्रय आ गया। पर्याय बदलती है तो भी `मैं' नहीं बदलता - ऐसा भासता है। ५४६.

❁

वर्तमान अंश में ही सब रमत (करतब) है - वह अंतर में देखे तो (अनंत) शक्तियाँ दिखेंगी; और बहिर्मुख होगा तो संसार दिखेगा। बस ! अंश से बाहर तो (कोई जीव) जाता ही नहीं है; इतनी ही मर्यादा में रमत है। ५४७.

❁

देव-शास्त्र-गुरु प्रति जो मचक है (शुभभाव है) वह भी नुकसान ही है; (किन्तु) इसमें जीव लाभ मान बैठता है; (ऊपर से) कहता तो है कि निमित्त से लाभ नहीं होता, लेकिन अभिप्राय

तो लाभ का ही बना रखा है; (तभी) तो वहाँ से अपनी ओर आता नहीं। ५४८.

❁

अज्ञान में जीव, वांचन-श्रवण-मनन आदि का जो पुरुषार्थ करता है उसमें तो थाक (बोझा) लगता है; लेकिन जिसमें थकान आवे - वह पुरुषार्थ ही कहाँ ? सहज पुरुषार्थ में तो बोझा लगता ही नहीं। (यहाँ पुरुषार्थ का स्वरूप दर्शाया है : जो सहज पुरुषार्थ हो तो उसमें कभी थकान नहीं आती है बल्कि विकल्प की थकान अवश्य मिट जाती है। जैसे जीवों को श्वासोच्छ्वास में कभी थकान नहीं लगती क्योंकि वह उनका व्यवहारजीवन (प्राण) है; वैसे ही सहज पुरुषार्थ आत्मा का जीवन है अतएव उसमें थकान कैसी ?) ५४९.

❁

जैसे कोई वीररस का, कोई रौद्ररस का। कोई कामरस का निमित्त है, वैसे यह देव-शास्त्र-गुरु शांतरस के निमित्त हैं; लेकिन अपने में शांतरस जगाये नहीं तो उन पर उपचार भी जाता नहीं। ५५०.

❁

सुननेमें भी एकान्त उल्लास नहीं होना चाहिए, दीनता लगनी चाहिए, खेद होना चाहिए। (मुमुक्षुकी भूमिकामें जिसको स्वरूपप्राप्तिकी तीव्र लगन है उसे स्वरूपकी अप्राप्तिमें, सुनने आदिके भावमें भी असंतोष / खेद वर्तता है।) ५५१.

❁

'दृष्टि' परिणामपर रखी है तो (उसका) मुख द्रव्य की

ओर बदलना है; यह मुख भी परिणाम ही बदलता है; `मेरे में' (ध्रुव सामान्य में) तो मुख भी कहाँ बदलना है ? `मैं तो जहाँ हूँ वहाँ ही हूँ,' बदलना-फदलना कुछ `मेरे' में नहीं है। (`मैं तो ध्रुव हूँ' ऐसे श्रद्धा के परिणमन में, परिणाम का मुख स्वयं पलटकर आत्मोन्मुखी हो जाता है।) ५५२.

❁

प्रश्न :- पर्याय का विवेक तो चाहिए न ?

उत्तर :- जैसे करोड़पति, भिखारी को अधिकता नहीं देता (भिखारी के सामने दीनता नहीं करता) ऐसे पर्याय की जितनी मर्यादा है उसको ज्ञान जान लेता है। पर्याय को अधिकता देने जाएगा तो प्रयोजन ही अन्यथा हो जाएगा। (यही विवेक है।) ५५३.

❁

बारह अंग का सार, `निष्क्रिय चैतन्य यही मैं हूँ' - ऐसा निर्णय करना है। `मैं' तो निष्क्रिय हूँ; कुछ करना ही नहीं है; `मैं' कुछ कर सकता ही नहीं; `मेरे' में कुछ करने की शक्ति ही नहीं; `मैं' वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, (इसमें) करना ही क्या है ? - ऐसा यथार्थ निर्णय हुआ तो मुक्ति हो गई। ५५४.

❁

विकल्प सहज होता है; निर्विकल्पता भी सहज होती है; और `मैं' भी सहज हूँ। (- ऐसा `ज्ञान' ज्ञानदशा में रहता है। परंतु अज्ञानदशा में विकल्प के कर्तृत्वपूर्वक विकल्प होता है उसमें विकल्प के स्वकाल और सहजता का अस्वीकार हो

जाता है।) ५५५.

❁

`आत्मधर्म' मिला, उसमें से यह पढ़ते ही कि, ``एक ही आवश्यक है,'' चोट लगी ! - अरे यह आठ द्रव्य से पूजा करना ! छ आवश्यक ! - यह तो सभी बोझा लगता है; और इसमें (एक आवश्यक में) तो बोझा घट जाता है। ५५६.

शास्त्र में ज्ञान करने का कहा तो कितने ही लोग चिंतन में ही रुक गये; और पुरुषार्थ करने का कहा तो विकल्प में ही रुक गये। (शास्त्र की उपदेशात्मक वचनपद्धति से चिंतन और विकल्प करने की कृत्रिम कार्यपद्धति बन जाना संभव है अतः यहाँ ऐसे विपर्यास के प्रति ध्यान खींचा है कि स्वरूपलक्ष्य से चिंतन आदि सहज चले, वही यथार्थ है। अन्यथा कृत्रिमता करने से तो कृत्रिमता में ही रुकना होता है।) ५५७.

❁

पहले अपनी (निश्चय) प्रभावना करके... अपना सुख पीने में मग्न रहो... बाद में जैसा-जैसा योग होता है वैसा-वैसा विकल्प आता रहता है। ५५८.

❁

`अपने' तो निर्वकल्पता भी करनी नहीं है; ध्रुवस्थलमें बैठनेसे निर्विकल्पता भी सहज होती है। पहले अभिप्राय ठीक करना चाहिए, फिर परिणाम भी ठीक होने लगते हैं। ५५९.

❁

निष्क्रियभाव कहने से जीव को पुरुषार्थ हीनता लगती है।

अरे भाई ! वह (स्वभाव) तो पुरुषार्थ की खान है; और जो मुक्ति होती है उसकी भी उसको दरकार (अपेक्षा) नहीं है। (निष्क्रियस्वभाव में आते ही मुक्तिपर्यंत की सर्व पर्यायों की अपेक्षा ही छूट जाती है, कृतकृत्यता अनुभवगोचर होती है - ऐसा भाव स्वयं पुरुषार्थ स्वरूप है; अतः उसे पुरुषार्थविषयक असमाधान नहीं रहता।) ५६०.

❁

प्रश्न :- (यह सब) स्वभाव को मज़बूत करने की बात है?

उत्तर :- स्वभाव तो मज़बूत ही है, उसमें बैठ जाओ। ५६१.

आत्मा तो समुद्र है। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं और अपने में ही विलीन हो जाती हैं; समुद्र को लहरों की क्या दरकार? वैसे ही इधर परिणाम उठते हैं और समा जाते हैं; मुझ (ध्रुव स्वभाव) समुद्र को इनकी क्या दरकार ? ५६२.

❁

उपयोग भगवान की ओर जावे तो भी जो (हम तो) उसे यम का दूत देखते हैं; तो (उसे) फिर अन्य कोई कहे कि - `मेरे से राग करो' - तो वह कैसे बन सकता है? ५६३. (अंगत)

❁

नित्य वस्तुका ही भरोसा ठीक करने योग्य है। ५६४.

❁

अज्ञानी को ऐसा रहता है कि - मैं कषाय को मंद

करते...करते अभाव कर दूँगा; लेकिन ऐसे तो कषाय का अभाव होता ही नहीं - ``स्वभाव के बल बिना कषाय नहीं टलती।'' मैं कषाय को मंद करता जाऊँगा; सहनशक्ति बढ़ाता जाऊँगा तो कषाय का अभाव हो जाएगा; और ज्ञान में जो परलक्ष्यी उघाड़ है वो ही बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान हो जाएगा - ऐसा अज्ञानी मानता है। ५६५.

❁

(कितने ही लोग) समझे बिना, द्रव्य में पर्याय नहीं है... नहीं है - ऐसा ले लेते हैं। लेकिन `पर्याय नहीं है,' ऐसा कौन कहता है !! दृष्टि का विषयभूत - `अपरिणामी' - पर्याय से अलग है, उसमें पर्याय का अभाव है, उसमें पर्याय नहीं है - ऐसा कहते हैं। (`द्रव्य' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से होता है : (१) प्रमाण के विषयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। (२) निश्चयनय के विषयभूत अपरिणामी द्रव्यस्वभाव को भी द्रव्य कहते हैं। पहले में पर्याय का सद्भाव है तथा दूसरे में असद्भाव है। अतएव जहाँ जो प्रकरण हो वहाँ तदनुरूप अर्थघटन करना चाहिए।) ५६६.

❁

`अपरिणामी' एक समय के परिणाम में आ जावे तो `अपरिणामी' ख़त्म हो जाए। ५६७.

❁

वेदनासमुद्घात में जीव के प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं। और शरीर के बाहर वेदन आता है; तो कोई जीव, इस पर से भी शरीर से (आत्मा के) भिन्नपने के विचार में

उतरकर काम कर सकता है। ५६८.

❁

`परिणाममें से अहम्पना हटना और त्रिकाल स्वभाव में अहम्पना करना,' वह शुद्धजीव का (परिणामस्वभाव) स्वरूप है। ५६९.

❁

स्वाध्याय आदि का विकल्पवाला ज्ञान है सो तो आकुलता के साथ अभेद है; और सहजज्ञान त्रिकालीस्वभाव के साथ अभेद है। (जिसमें निराकुलता है।) ५७०.

❁

`मैं त्रिकाली तत्त्व हूँ,' इसमें अहम्पना करना - वही बारह अंग-चौदह पूर्वका सार है; अंगपूर्वमें यही कहना है। ५७१.

❁

`सिद्ध भगवान खिसकते ही नहीं' इसका अर्थ ही ऐसा है कि वे परिपूर्ण तृप्त-तृप्त हो गये हैं, इसीलिए खिसकते ही नहीं है। (- ऐसा परिणमन होनेका ही द्रव्य का स्वभाव है।) ५७२.

❁

अनुभव होना तो आसान है। लेकिन विशेष उघाड़शक्ति होना और न्याय आदि (विचारना) श्रमवाला है। अपने को गुरुदेवश्री ने ही सब दिया है। ५७३.

❁

सम्यग्दृष्टि को एक विकल्प भी फाँसी-सा लगता है; विकसित स्वभाव को (विभावमात्र) फाँसी लगती है। ५७४.

❁

(जिसकी कर्ताबुद्धि मिट गई है, ऐसा ज्ञानी के अभिप्राय में :) केवलज्ञान भी करना नहीं है, हो जाता है। तब फिर क्षयोपशम ऐसे करुँ.... ऐसे करुँ - वह तो कर्तृत्व ही है। (स्वरूप को भूल- ने पर ऐसा विपर्यास होता है।) ५७५.

❁

(अध्यात्म की) ऐसी बात सुनने को मिल जाने से (कितने ही लोगों को) संतोष हो जाता है कि दूसरे लोगों को ऐसी बात नहीं मिली (किन्तु) अपने को तो मिली है न ! - ऐसे अधिकता मानकर जीव संतुष्ट हो जाता है। (नीची दशावालों की ओर दृष्टि रखना वह तो स्वयं के लिए ही एक बड़ा भारी नुकसान का कारण है।) ५७६.

❁

तीनों लोक के सर्व पदार्थ ज्ञान में आ जावें तो भी ज्ञान सभी को पी जाता है; और कहता है कि - अब और कुछ बाकी हो तो आ जाओ ! ५७७.

❁

(निज सुख के लिए) सारे जगत् में बस.... 'मैं ही एक वस्तु हूँ और कोई वस्तु है ही नहीं।' अरे ! दूसरी कोई वस्तु है या नहीं है, ऐसा विकल्प भी क्यों ? ५७८.

❁

(राग को) ज्ञान का ज्ञेय....ज्ञान का ज्ञेय कहते हैं, और लक्ष्य राग की ओर है तो वह, सच्चा ज्ञान का ज्ञेय है ही नहीं। (यथार्थता में तो) ज्ञान का ज्ञेय तो अंदर में सहजरूप हो जाता है।

लक्ष्य बाहर पड़ा हो और `ज्ञान का ज्ञेय' ऐसा बोले तो मुझे तो खटकता है। वैसे ही `योग्यता,' `क्रमबद्ध' आदि सभी में लक्ष्य बाहर पड़ा हो और वैसा कहे तो मुझे खटकता है। ५७९.

❁

प्रश्न :- अपरिणामी का अर्थ क्या ? - आत्मा, पर्याय बिना का सर्वथा कूटस्थ है ?

उत्तर :- अपरिणामी अर्थात् द्रव्य में पर्याय सर्वथा नहीं है, ऐसा नहीं है। लेकिन पलटनशील - परिणमन स्वभावी पर्याय को गौण करके, `मैं वर्तमान में परिपूर्ण हूँ, अभेद हूँ' - ऐसे ध्रुवद्रव्य और ध्रुवपर्याय को (- जिसको कि, ``नियमसार'' मैं कारणशुद्धपर्याय कहा है, उसको) लक्ष्यगत करने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

द्रव्य पलटता नहीं है, पर्याय पलटती रहती है। यदि द्रव्य परिणमन को प्राप्त हो जाए तो पलटते हुए द्रव्य के आश्रय से स्थिरता हो नहीं सकती; और स्थिरता बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए जो पलटती ही रहती है उसका लक्ष्य छोड़; और ध्रुव-अपरिणामी चैतन्यतत्त्व जो एक ही सारभूत है, उसका लक्ष्य कर !

पर्याय परिणमती है, उसका परिणमन होने दे ! उसके सन्मुख मत देख ! मगर उसी समय `तू' परिपूर्ण-अपरिणामी-ध्रुवतत्त्व है, उसको देख !

अहो ! `मैं' वर्तमान में ही परिपूर्ण-ध्रुव-अपरिणामी तत्त्व हूँ ! - यह बात जगत् के जीवों को नहीं जँचती है। और प्रमाण

के लोभ में - आत्मा को यदि अपरिणामी मानेंगे तो प्रमाणज्ञान नहीं होगा और एकांत हो जाएगा, ऐसी आड़ लगाकर - पर्याय का लक्ष्य नहीं छोड़ना चाहते हैं। इस ही कारण से वे अपरिणामी चैतन्यतत्त्व को प्राप्त नहीं होते हैं। ५८०.

❁

प्रश्न :- शास्त्र में आत्मा को भेदाभेद स्वरूप कहा है; और आप तो आत्मा को अभेद कहते हो; इसमें आपका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :- प्रमाणज्ञान की अपेक्षा से आत्मा को भेदाभेदस्वरूप कहने में आता है। लेकिन वास्तव में सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा तो अभेद ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का विषय भेद नहीं है। इसलिए भेदाभेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, मात्र अभेद के लक्ष्य से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, यही आशय है। ५८१.

❁

पुरुषार्थ की व्याख्या : सहज उद्यम।

'मैं' तो अनादि-अनंत अपने स्वरूप में स्थित हूँ, निर्विकल्प हूँ जो सुखरूप है। कृत्रिम उद्यम तो विकल्पवाला खोटा पुरुषार्थ है, दुःखरूप है। ५८२.

❁

परिणाम मात्र व्यवहार है। परिणाम की दृष्टि से दीनता आती है। पर्याय में रुकने से एकांत दुःख होता है। परिणाम उत्पाद-व्यय स्वरूप है। 'मैं' तो अपरिणामी हूँ, जिसमें उत्पाद-व्यय नहीं है; निगोद से लेकर सिद्ध तक वैसा का वैसा ही

हूँ। परिणाम में प्रसरने से परिणाम जितना हो जाएगा। (क्षणिकपरिणाम जितना ही अपना जीवन (अस्तित्व) ग्रहण करने से - ऐसे मिथ्यात्व के फलस्वरूप - निगोद का क्षणिक जीवन प्राप्त होता है।) ५८३.

❁

प्रत्येक परिणाम सत् है; उसमें फेर-फार करने का विकल्प झूठा है। ध्रुव, सदा ध्रुवरूप ही है - वो उत्पाद-व्यय को क्या करे? ५८४.

❁

`मैं' तो विकल्प मात्र से और परिणाम मात्र से रहित हूँ। ५८५.

❁

`मेरा' अस्तित्व परिणाम तथा विकल्प में नहीं है। `मैं' तो वर्तमान में ही त्रिकाली अपरिणामी हूँ। `मेरे' में (विकल्प के) कर्तापने का स्वभाव हो तो मुक्ति कभी नहीं हो सकती। ५८६.

❁

`मैं' नित्य सदृश्य हूँ, जिसमें कुछ करने का या फेर-फार करने का नहीं है। नित्य वस्तु को ध्येय बनाने से `मेरे' में (सांसारिक) सुख-दुःख नहीं है; हर्ष-शोक तो पर्यायदृष्टि में है। ५८७.

❁

पर्याय विनश्वर है; इसमें एकत्व करनेसे `स्वयं' विनश्वर होता है। श्री योगेन्द्रदेव कहते हैं कि - ``उत्पाद-व्यय, बंध-मोक्ष `पर्याय' में हैं, `मेरे' में नहीं।'' (श्रीमद् राजचंद्रजीने भी

कहा है कि - दिगम्बर आचार्योंने ऐसा माना है कि `जीवका मोक्ष नहीं होता, परंतु समझमें आता है'। वह इस तरह कि जीव शुद्ध स्वरूपवाला है, उसे बंध ही नहीं हुआ तो फिर मुक्त होना कैसा ? परंतु उसने यह मान रखा है, `मैं बँधा हुआ हूँ,' यह मान्यता विचार द्वारा समझमें आती है कि मुझे बंधन नहीं है, मात्र मान लिया था। वह मान्यता शुद्ध स्वरूप समझमें आनेसे नहीं रहती; अर्थात् `मोक्ष समझमें आ जाता है'। यह बात `शुद्धनय' अथवा `निश्चयनय' की है। पर्यायार्थिकनयवाले इस नयको पकड़कर आचरण करें तो उन्हें भटक-भटक कर मरना है।) (एकान्त पर्यायार्थिकनयके विषयभूत पर्यायसत्ताका जिसने आश्रय लिया है उसे ऐसी अवस्थामें मात्र कल्पनासे स्वयंको `मुक्त स्वरूप' मान लेनेसे गृहीत मिथ्यात्व अर्थात् तीव्र मिथ्यात्व हो जाता है जो संसार परिभ्रमणका मूल कारण है। ५८८.

❁

दर्पण में समय-समय पर आकार (प्रतिबिंब जैसा) होता रहता है, तो भी दर्पण का दल ज्यों का त्यों रहता है। ऐसे ही, `स्वभाव' दर्पण के दल जैसा है; वह स्वयं के साथ तादात्म्य है, आकार के साथ नहीं। त्रिकाली में वर्तमान परिणमन का अभाव है। ५८९.

❁

(जीव) मुक्ति को चाहता है, लेकिन उसके अभिप्राय में कर्तापना पड़ा हो तो मुक्ति कैसे हो ? `मैं पूर्ण हूँ' ऐसा निश्चय होनेपर, कर्तापना नहीं रहता। ५९०.

❁

`स्वभाव' सावधान स्वरूप है। पर्याय में सावधानी होनेपर स्वभाव पकड़ने में नहीं आता। ५९१.

❁

(मूलतः) `वर्तमान में ही पूर्ण हूँ,' (पर्याय में भी) प्रयोजन सुख का है, ज्ञान का नहीं। ५९२.

❁

`सारा जगत् ज्ञान का ज्ञेय है,' `अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ नहीं है' - इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होनी चाहिए। दृष्टि में मचक नहीं आनी चाहिए। अभिप्राय में परसे लाभ-नुकसान की मान्यता क्यों? अभिप्राय में इच्छा व दीनता नहीं होनी चाहिए। (अभिप्राय और दृष्टि साथ वर्तते हैं और तदनुसार ही परिणमन का संचरण/ विकास होता है, ऐसा सिद्धांत है।) ५९३.

❁

`मैं त्रिकाली अपरिणामी हूँ', परिणाम मात्र गौण है, वर्तमान में ही ऐसा निश्चय होना चाहिए। ध्रुवस्वभाव सदा प्रसिद्ध है; उत्पाद-व्यय के काल में जुदा प्रकट है। (स्वभाव की) दृष्टि प्रतिसमय पर्याय को गौण करती है। ५९४.

❁

प्रश्न :- जीव का कर्तव्य क्या ?

उत्तर :- कर्तव्य पर्याय में है। परमार्थ से कोई कर्तव्य नहीं। प्रमाणज्ञान का प्रयोजन तो `निश्चय' को प्रकाशित करना है। (जीव को कर्तव्य की मुख्यता के नामपर भी कर्ताबुद्धि दृढ हो जाने की संभावना रहती है। वस्तुतः सभी प्रकार के

दोषों से छूटने / बचने तथा सर्व श्रेय का मूल निश्चयपरमार्थस्वरूप का `ज्ञान' है अतः मूल प्रयोजनभूत विषय `मूलस्वरूप' ही है; जिसके श्रद्धान-ज्ञान से पर्यायविषयक उत्तर प्रयोजन की सिद्धि स्वयं हो जाती है।) ५९५.

❁

`मैं' तो प्रतिमासमान अपरिणामी हूँ। `मेरे' में पालथी मारकर बैठ जाता हूँ। दर्पण के दल की तरह निष्क्रिय हूँ। परिणाम जो होने लायक है सो होता है। `मैं' तो पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य हूँ - वही निष्क्रियता है। ५९६.

❁

पर्यायको उसको स्वकालमें रहने दो, वह उस कालका सत् है; उसमें उपयोग मत रोकना। ५९७.

❁

द्रव्य, पर्याय का आलिंगन नहीं करता। पर्याय, द्रव्य का आलिंगन नहीं करती; कथंचित् व्यवहार से आलिंगन करती है। ५९८.

❁

हर समय द्रव्यस्वभावकी अधिकता रहनी चाहिए। जैसे तिनकेकी आड़में डूँगर (पर्वत) नहीं दिखता है, वैसे ही दृष्टि परिणाम पर रुकनेसे परिणामी ढँक जाता है। ५९९.

❁

(संक्षेप में अध्यात्मदृष्टि से) चार अनुयोग :-

करणानुयोग : विकार और विकार के फल।

द्रव्यानुयोग : स्वभाव और स्वभाव का फल।

चरणानुयोग : चारित्र की स्थिरता।

कथानुयोग : उक्त सभी की कथा। ६००.

❁

'मैं निष्क्रिय त्रिकाली हूँ' - इस चश्मे को लगाकर देखने से सभी गुण अपना कार्य करते हैं, इसमें सहज ज्ञान और पुरुषार्थ आ जाता है।

(सहज स्वरूप में) साधक-बाधक कोई नहीं है, यह चश्मा लगाने से अर्थात् ध्रुव की मुख्यता में सब यथार्थ दिखता है। साधक-बाधकभाव पर्याय में है, 'मैं तो ध्रुव हूँ।' ६०१.

❁

निश्चयाभास होनेका भय और प्रमाणज्ञान का लोभ रहने से सत्यमार्ग दिखाई नहीं देता। ६०२.

क्षणिकभाव व्यक्त है उसको गौण करना; और त्रिकालीभाव अव्यक्त है उसको मुख्य करना। ६०३.

❁

यथार्थ निश्चय में सुख प्रकट होता है। ६०४.

❁

जैसे एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ नहीं करता है, वैसे एक सत् अन्य सत् का कुछ नहीं करता। त्रिकालीसत् क्षणिकसत् को नहीं करता। क्षणिकसत् त्रिकालीसत् का कुछ नहीं करता। ६०५.

❁

त्रिकालीमें विकार-अविकार कुछ नहीं है। (वह तो जैसा

है वैसा है।) ६०६.

❁

प्रमाण से द्रव्य पर्याय का कर्ता है। निश्चय से (त्रिकाली) द्रव्य पर्याय का कर्ता नहीं है। ६०७.

❁

`वर्तमान में ही अक्रिय-अपरिणामी हूँ,' अर्थात् कोई क्रिया करने का अभिप्राय नहीं है। कुछ करुँ...करुँ में, स्वयं परिणमन करते परिणाम को करने का ही अभिप्राय रहता है। (जो मिथ्या है।) ६०८.

❁

निरावलंबी तत्त्व में बैठ जाना है। वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ तो फिर करना क्या ? ज्ञान करना ! - वो तो सहज ही है; उसका भी बोझा उठाने की ज़रूरत नहीं है। ६०९.

❁

विकल्प, स्व का या पर का - उनकी जात एक ही है - क्षणिक है। `मैं' त्रिकाली निर्विकल्प हूँ, `मेरे' में विकल्प की नास्ति है। ६१०.

❁

ज्ञान बढ़ाने की व कषाय घटाने की ज़रूरत नहीं है, यों तो केवलज्ञान प्रकट करने की भी ज़रूरत नहीं है। `परिणाम पर न खैंचावो' सहज स्वभाव रह जाएगा। ६११.

❁

`मैं' स्थिर हूँ - ऐसा निर्णय करने पर स्थिरता आती है, टिकती है, बढ़ती है, और सुख होता है। `मैं' अस्थिर

हूँ' - ऐसे भाव में सुख नहीं मिलता, दुःख होता है। ६१२.

❁

(ज्ञानीके) अभिप्रायमें, परिणाम-गति आदि गौण हो जाती है। उनकी मरणके समय क्षेत्रांतर पर नहीं लेकिन परिपूर्ण (स्व) पर दृष्टि रहती है। ६१३.

❁

'प्रति समय का परिणमन' (- व्यवहार) उस काल में मात्र जाना हुआ ही प्रयोजनवान है - बस ! इतनी ही मर्यादा है। ६१४.

❁

वस्तुस्वरूप तो सहज का धंधा है, वाद-विवाद करे सो अंधा है। (वादविवाद करनेवाला अज्ञानी सहजस्वरूप को नहीं देखता और न ही वह परिणाम की सहजा को समझता है। असल में दूसरों की श्रद्धा / अभिप्राय बदलने के आग्रह में विवाद उत्पन्न होते हैं। और साथ ही विवाद करनेवाले को स्वयं के क्षयोपशम का अहंभाव तीव्र हो जाता है।) ६१५.

❁

जो क्षणिकसत् को नहीं स्वीकारता, वह त्रिकालीसत् को कैसे स्वीकारेगा ? ६१६.

❁

एक ओर त्रिकाली का पलड़ा और दूसरी ओर क्षणिक का पलड़ा; - जैसे एक ओर माल, दूसरी ओर बारदान; महत्ता मालकी है, बारदान की नहीं। ६१७.

❁

गति में, व्यवहार से क्षेत्रांतर होता है; निश्चयसे अपना क्षेत्र कभी नहीं छूटता। ६१८.

❁

ज्ञान की पर्याय ज्ञेय के साथ संबंध रखती है। ज्ञायक का संबंध किसी के साथ नहीं। (`मैं असंग तत्त्व हूँ।') ६१९.

❁

प्रश्न :- इस काल में सत्समागम लाभकारी है ?

उत्तर :- निश्चयस्वरूप अपनी आत्मा का समागम करना, वही सत्समागम है और यही लाभकारी है। व्यवहार से देव-शास्त्र-गुरु तथा धर्मात्मा का संग सत्समागम है। ६२०.

❁

`मैं' ध्येय स्वरूप हूँ। परिणाम `मेरा' ध्यान करता है। ६२१.

❁

जिसमें थकावट आये, उसे हेय जानें। शुभाशुभ में थकावट आती है; शुद्धभाव में थकावट नहीं आती।

पर्याय को पर्याय के स्थान में रहने दो ! ६२२.

❁

पोपट भूँगली को पकड़ने पर औंधा हो जाता है, गिर जाने के भय से (वह) भूँगली को छोड़ता नहीं है; यदि वह भूँगली को छोड़ दे तो उड़ जाए, क्योंकि उड़ना तो उसका सहज स्वभाव है। (परंतु अज्ञानवश) वह अपनी स्वाभाविकशक्ति को भूला हुआ है। वैसे ही अज्ञानी अपनी शक्ति को भूल कर परिणाम को पकड़े हुए है। (अज्ञानवश स्वशक्ति को भूल जाने से राग और राग के विषयभूत पदार्थों के अवलंबन /

आधार से अपना जीवन टिकता है, ऐसा परिणमन चलता है। जबकि स्वशक्ति के भान में ऐसी दीनता सहज ही छूट जाती है, इसीलिए ज्ञानदशा में किसी भी पदार्थ का त्याग सहज हो सकता है; जिसमें न आकुलता होती है और न ही भय रहता है।) ६२३.

❁

सम्यग्दृष्टि की राग के प्रति पीठ है, (लेकिन) मुख नहीं।

`मैं' तो सदा अंतर्मुख हूँ, `मेरा' विकल्प के साथ भी संबंध नहीं है; तो दूसरों की तो क्या बात ? आत्मा ही निज वैभव है। ६२४.

❁

`मैं परिणाम से शून्य हूँ' - ऐसा (रुचिपूर्वक) ज़ोर आना चाहिए। ६२५.

❁

द्रव्यलिंगी को मंद कषाय की मुख्यता है और द्रव्य की गौणता है। (व्यवहारभास में सर्वत्र ऐसा होता है।) ६२६.

❁

`मेरी' भूमि वर्तमान में इतनी निष्कम्प और नक्कर (ठोस) है कि जिससे `मैं' वर्तमान में ही निर्भय हूँ, निरावलंबी हूँ, परिपूर्ण हूँ, निष्क्रिय हूँ, सुखस्वरूप हूँ, कृतकृत्य हूँ, त्रिकाल एकरूप हूँ, अचल हूँ। ६२७.

❁

(स्वयंकी प्रसिद्धिके बारेमें पूछा गया तब कहा कि :) कोई जाने न जाने, इसमें आत्माको कोई फायदा नहीं है। अनंत

सिद्ध हो गए हैं, (लेकिन) आजकल कोई उनके नाम तक भी नहीं जानता है ! असंख्य सम्यग्दृष्टि (तिर्यंच) अभी ढ़ाई द्वीपके बाहर मौजूद हैं, उन्हें कौन जानता है ?

आप किसीके लिए बोझा न उठावें। मैं अपनी बात अपने मुखसे नहीं कह पाऊँगा, और कोई बात बना करके (कि, ऐसा कहना है) (वहाँ) जाना, ऐसा मुझसे नहीं हो सकता। (धर्मात्माके समागममें पूर्वयोजित बात कहनेसे कृत्रिमता और असरलताका अपराध उत्पन्न होता है, जो कि मुमुक्षुओंको करने योग्य नहीं है।) ६२८. (अंगत)

❁

एक पलड़े में आत्मा, और दूसरे पलड़े में तीन काल-तीन लोक; फिर भी आत्मावाला पलड़ा (भार से) बैठ जाता है, और दूसरा पलड़ा उलट जाता है। ६२९.

❁

द्रव्यलिंगी मुनि ने वीर्य बहुत उलटा लगाया है। वह जितनी ज़ोर से उलटा पड़ा है, उससे अधिक वीर्य सम्यक् होने में लगाना पड़ेगा, तभी सम्यक् होगा। ६३०.

❁

पूज्य गुरुदेवश्री के एक घंटे के प्रवचन में पूरी की पूरी बात आ जाती है। ६३१.

❁

(धार्मिक पर्व के दिनों में श्री मंदिरजी में पूज्य बहेनश्री-बहन की भक्ति देखकर बोले :) - ऐसी भक्ति मेरे में नहीं है, इस बात में तो मैं अपनी क्षति देखता हूँ। ६३२. (अंगत)

❁

(श्रीमद् राजचंद्रजीका पत्रांक :- ४०८ पढ़कर प्रमोदसे निकले उद्‌गार :-) अहो ! क्या चीज़ (तत्त्व) रख दी है इसमें !! ६३३.

❁

(लगाव-प्रधान होकर चेष्टा करना) - ऐसी मेरी प्रकृति नहीं है, फिर भी कोई योग्यता पड़ी होगी जो अपने स्वकाल में बाहर आ गई। (ऐसी योग्यतावश भाईश्री राजकोट के हवाई अड्डेपर श्री लालचंदभाई से गले लगाकर मिले थे।) (द्रव्य में पर्याय परिणमनशक्तिरूप योग्यता होती है जो अपने स्वकाल में प्रकट होती है। उक्त वचन में ऐसा द्रव्यानुयोग का सिद्धांत स्पष्ट होता है।) ६३४. (अंगत)

❁

प्रश्न :- सम्यग्दर्शनके पहले आपकी कैसी दशा थी?

उत्तर :- निर्विकल्पताके पहले विकल्पका इतना दुःख मालूम हुआ था - ऐसी दशा हुई थी - कि या तो देह छूट जायेगी या विकल्प फट जायेगा। तीसरी बात होनेवाली नहीं थी। (निर्विकल्पदशाकी पूर्वभूमिकामें स्वरूप सम्बन्धित सूक्ष्म विकल्पमें भी इतना तीव्र दुःख महसूस हुए बिना, विकल्प सहज छूट कर, निर्विकल्पदशा उत्पन्न नहीं होती)। ६३५. (अंगत)

❁

निश्चयग्रंथ आत्मा है, निश्चयगुरु आत्मा है और निश्चयदेव भी आत्मा है। मूल बात इधर (अंतर) से है; बाद में बाहर के निमित्तों पर उपचार किया जाता है। ६३६.

❁

`मैं तो अभी ही सिद्ध हूँ,' चौदहवाँ गुणस्थान होगा और बाद में सिद्धालय में जाना होगा, क्षेत्रांतर वगैरह होगा; लेकिन यह सब कार्य पर्याय में होगा। पर्याय का कार्य पर्याय में होता है, `मेरे' में नहीं। `मैं' तो अभी ही सिद्धालय में बैठा हूँ ! कभी कहीं आया भी नहीं, गया भी नहीं। ६३७.

❁

प्रश्न :- पुरुषार्थ कैसे करना ?

उत्तर :- `मैं वर्तमान में ही अनंतवीर्य का पिंड हूँ' - यही पुरुषार्थ है।

प्रश्न :- दृष्टि तो फेरना है न ?

उत्तर :- `मैं ख़ुद ही दृष्टा हूँ' - इस भाव में दृष्टि नहीं फेरना है (वह तो स्वयं फिर जाती है); वर्तमान में ही कृतकृत्य हूँ, इसमें कुछ करना नहीं है। ६३८.

❁

प्रश्न :- परिणति अंतर में अभेद रहती है, इसलिए आप साधक हैं ?

उत्तर :- पर्याय की अपेक्षा से मुझे साधक कहो तो कहो। वैसे `मैं' तो न साधक हूँ, न बाधक हूँ। (`मैं' तो जो हूँ सो हूँ।) ६३९.

❁

यह (भव) तो मुसाफ़िरी है। अब तो आखिरी मुसाफ़िरी है। ६४०.

❁

गुरुदेवश्रीके लिए मेरे हृदयमें क्या (महिमा) है ? - सो

चीर कर कैसे बतलाऊँ ? ... बस ! यह तो मेरा ज्ञान ही जानता है। ६४१.

❁

(एक मुमुक्षु :) हमको पढ़ना नहीं है, मुनि होना है।

(भाईश्री :) `हमको' तो न पढ़ना है, न मुनि होना है। `हमारे' में कुछ होनेका सवाल ही नहीं। `मैं तो जो हूँ सो हूँ'। ६४२.

❁

(बाह्य कार्योंमें) मुझे इतनी थकान लगती है कि कितने ही दिनोंका एकान्त मिले फिर भी थकान न उतरे। इतनी एकांतप्रियता है। ६४३. (अंगत)

❁

(शामका समय) (प्रस्ताव :) आप हमारे साथ गुरुदेवश्रीके पास चलेंगे ?

उत्तर :- आप जाईए ! (हृदय पर हाथ रख करके बोले :) मैंने तो गुरुदेवको यहाँ बैठा लिया है। (बादमें आप ध्यानमें बैठ गये)। ६४४.

❁

प्रश्न :- अभी आप कौनसे शास्त्रका वांचन करते हो ?

उत्तर :- शास्त्रवांचनकी खास आदत नहीं रही। और मुझे क्षयोपशम भी बढ़ाना नहीं है। ६४५.

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१	जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
०२	द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग - पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्त्वचर्चा)	३०-००
०३	दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०४	दंसणमूलो धम्मो (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
०५	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
०६	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	
०७	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
०८	मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
०९	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
१०	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
११	तत्त्वानुशीलन (भाग १-२-३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
१२	अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	
१३	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	
१४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	
१५	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छ: पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
१६	आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-५६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१७	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१८	अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
१९	धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	
२०	सिद्धपदका सर्वश्रेष्ठ उपाय	२५.००

२१	कुटुम्ब प्रतिबंध	२५.००
२२	दिशा बोध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५.००
२३	प्रवचन नवनीत भाग-१ (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)	२०.००
२४	गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहन द्वारा गुरु भक्ति)	१५.००
२५	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०.००
२६	कहान रत्न सरिता (परमागमसार के विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	३०.००
२७	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	४०.००
२८.	वचनामृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री के नायरोबी में हुए प्रवचन)	२०.००
२९.	प्रवचन सुधा भाग-१ (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन	२०.००
३०.	प्रवचन नवनीत भाग-२ (पूज्य गुरुदेवश्री के पसंद के खास प्रवचन)	२०.००
३१.	प्रवचन नवनीत भाग-३ (पूज्य गुरुदेवश्री के पसंद के खास प्रवचन)	२०.००
३२.	प्रवचन नवनीत भाग-४ (पूज्य गुरुदेवश्री के पसंद के खास प्रवचन)	२०.००
३३.	मुक्ति का मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन)	१०.००

વીતરાગ સત્‌સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	ગુરુગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભ ક્તિ)	૦૫-૦૦
૦૨	જિણસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૦૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત)	૦૨-૦૦
૦૪	દ્રવ્યદૃષ્ટિપ્રકાશ ભાગ-૩ (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીની તત્ત્વચર્ચા)	૦૪-૦૦
૦૫	દસલક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૦૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૦૭	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૦૮	પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૦૯	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૧૦	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૧ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૧૧	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૨ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૧૨	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૩ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૧૩	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૪ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૧૪	પ્રવચન પ્રસાદ ભાગ-૧-૨ (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૧૫	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૧૬	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૭	ભગવાન આત્મા (દ્રવ્યદૃષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૮	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૧૯	સમ્યક્‌જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૨૦	આધ્યાત્મિક પત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૨૧	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	પ્રેસમાં
૨૨	જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૨૩	બીજું કાંઈ શોધ મા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૨૪	મુમુક્ષુતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૫	સમ્યગ્‌દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભુત છ પદનો અમૃત પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૬	આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૬૯, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૭	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૮	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૨૯	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦ ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૦	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૧	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં `બહેનશ્રીના વચનામૃત' પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦.૦૦
૩૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫.૦૦
૩૪	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, ૫૭૨, પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૫	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) ('પરમાગમસાર' માંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૬	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં `સમયસાર' પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫.૦૦
૩૭	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત 'સુવિધિ' લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫.૦૦
૩૮	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક–૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૯	સમકિતનું બીજ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦.૦૦
૪૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૧	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) ('પરમાગમસાર' માંથી ક્રમબદ્ધપર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦.૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૩	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૪	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) 'કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા' ગ્રંથ ઉપર	

	પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનીજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) 'કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનીજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૬	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) 'દ્રવ્યસંગ્રહ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો.	૨૦.૦૦
૪૭	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) 'દ્રવ્યસંગ્રહ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો.	૨૦.૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ–૫) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૯	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ–૬) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૫૧	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૨	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૩	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સોગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૪	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) ('દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) ('બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૫૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ–૭) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૭	રાજહૃદય (ભાગ–૩) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ–૮) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	९६००
२२	पुरुषार्थसिद्दिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००

३०	निर्भ्रांत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	१५००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजराती)	२०००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२०००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२०००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	२५००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००

६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	२०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३०००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१०००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००
९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००
९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	१०००

९६	राज हृदय (भाग-३)	७५०
९७	प्रवचन सुधा (भाग-१) हिन्दी	१०००
९८	प्रवचन नवनीत (भाग-२) हिन्दी	१०००
९९	प्रवचन नवनीत (भाग-३) हिन्दी	१०००
१००	प्रवचन नवनीत (भाग-४) हिन्दी	१०००
१०१	मुक्ति का मार्ग (हिन्दी))	१०००
१०२	प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०